लेखक परिचय

डॉ. हरिओम

जीन्द (हरियाणा) के ग्रामीण आंचल में 10 जनवरी 1959 को जन्में तथा कृषक परिवार की पृष्ठभूमि में आरम्भिक शिक्षा के बाद पी. एच.डी. (सस्य विज्ञान) की डिग्री चौधरी चरण सिंह हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय, हिसार से प्राप्त की। डिग्री हेतू किए गए संकर धान पर उत्तम शोध कार्य के लिए डॉ. वी.डी. कश्यप स्वर्ण पदक से सम्मानित।

हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय के सस्य विज्ञान विभाग में वरिष्ठ वैज्ञानिक के पद पर कार्यरत्त हैं। पिछले 24 वर्षों से मुख्य रूप से धान-गेहूं फसल चक्र, फसल प्रणाली व कृषि प्रणाली के उत्पादन सम्बन्धी शोध कार्य में संलग्न हैं। साथ ही देश एवं विदेश की विभिन्न प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में 150 से अधिक शोध पत्रों/लेखों और 6 पुस्तकों/बुलेटिन के लेखन में योगदान किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सेमीनार 'नेचुरल रिसोर्स मैनेजमेंट' में श्रेष्ठ शोध पत्र प्रस्तुति हेतू सम्मानित।

आध्यात्मिक पुनर्जन्म के लिए 14 नवम्बर 1986 को राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज के चरण कमलों में पहुंचे और दीक्षा ग्रहण की। सतगुरू की आज्ञा से 1 फरवरी 1998 से आध्यात्मिक कार्य के मिशन में संलग्न हैं। अध्यात्म को वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया और 18 आध्यात्मिक पुस्तकों की रचना की।

युद्ध और जीवन दर्शन

राधास्वामी सत्संग ताराधाम, कुरूक्षेत्र
(हरियाणा)

युद्ध और जीवन दर्शन

सर्वाधिकार सुरक्षित
जून 2007

डा० हरिओम
वरिष्ठ वैज्ञानिक

राधास्वामी सत्संग ताराधाम, कुरूक्षेत्र
(हरियाणा)

विषय - वस्तु

क्रम सं.	विषय	पष्ठ सं.
1.	आध्यात्मिक संकल्प, मार्ग एवं लक्ष्य	1
2.	आध्यात्मिक शक्ति और युद्ध की प्रवति	5
3.	आध्यात्मिक शक्ति और जीवन का विकास	36
4.	जिज्ञासुओं के लिए प्रश्न	63
5.	पुस्तक सूची	64

राधास्वामी।

राधास्वामी दयाल की दया राधास्वामी सहाय।

राधास्वामी।

समर्पित

राधास्वामी दयाल परम् संत

सतगुरू ताराचन्द जी महाराज

के चरण कमलों में।

आध्यात्मिक संकल्प, मार्ग एवं लक्ष्य

राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज की प्रेरणा से हमने संकल्प लिया है कि आध्यात्मिक कार्यों के लिए किसी से भी पैसों की सेवा नहीं ली जाएगी और किसी आश्रम की स्थापना नहीं की जाएगी क्योंकि मेरा विश्वास है कि यदि कोई आध्यात्मिक सूर्य उदय होना चाहता है तो वह इतना सक्षम है कि वह अपना रास्ता स्वयं ही बनाएगा, यह उसकी आवश्यकता है और मजबूरी भी। यदि वह स्वयं की अभिव्यक्ति के लिए किसी धन और आश्रमों का मोहताज है तो मुझे ऐसा अध्यात्म स्वीकार नहीं है।

व्यक्ति का धन दीनहीन की सेवा के लिए हो, गुरू की विलासिता के लिए नहीं। आज के अध्यात्म का मार्ग यदि झोंपड़ी की तरफ नहीं जाता है तो वह गुरूओं के आलीशान महलों की तरफ तो कतई नहीं जा सकता है। सर्वभूतों, दीन-दुःखियों और अपने चारों तरफ के वातावरण में ही सतगुरू के दर्शन हों। मनुष्य का हृदय ही आश्रम हो जो हर जीव-अजीव को शांति दे और उसके लिए सुख और परोपकार की कामना करे। व्यक्ति का घर ही आश्रम हो जहां पर माता-पिता और आगन्तुक परमात्मा तुल्य हों। शान्ति, विकास और सुरक्षा का आधार कम्यून, संघ या कोई गठजोड़ नहीं बल्कि स्वयं व्यक्ति हो जो समाज व वातावरण की जरूरत को समझे। व्यक्ति के विकास से समाज और देश के विकास का मार्ग स्वयं ही निर्मित होगा। यही आध्यात्मिक साम्यवाद है जो व्यक्ति एवं घर से आरम्भ होता है और विश्वमानव या महामानव के निर्माण पर इसकी पूर्ति होती है।

अध्यात्म का कार्य करने के लिए और उसमें जीने के लिए हमें किसी मन्दिर, मस्जिद, चर्च या गुरूद्वारे की आवश्यकता नहीं है। इस कार्य के लिए केवल एक ही इन्फरा-स्ट्रक्चर या व्यवस्था चाहिए और वह है मनुष्य रूपी शिवालय, मनुष्य रूपी देवालय। मिट्टी के एक तत्व से बने तीर्थ स्थान, मूर्ति या शास्त्र इसकी आवश्यकता नहीं हैं बल्कि परमात्मा के जीवन से भरपूर पंचतत्व से निर्मित मनुष्य का शरीर चाहिए जिसके अन्दर स्वयं सष्टि का स्वामी निवास करता है। मनुष्य के मन और हृदय में सारे देवी-देवता, सारे तीर्थ व शास्त्र समाए रहते हैं और यहीं से इन सभी की पैदायश है।

बुल्लेशाह कहते हैं-

मन्दिर ढ़ाहदे मस्जिद ढ़ाहदे, ढ़ाहदे जो कुछ ढ़हंदा ए।
पर दिल किसी दा न ढ़ाहवी रब दिलां विच रहंदा ए।।

मेरा ऐसा मानना है कि यदि मनुष्य के अन्दर आध्यात्मिक सूर्य अर्थात् विज्ञानमय या आनन्दमय पुरूष की एक किरण भी संचित हो जाती है तो वहां पर हर तरह की बरकत स्वतः ही बहने लगती है। वह धरती सबको अपनी तरफ खींचने लगती है। सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक व आर्थिक चेतना का विकास होने लगता है। किसी समाज में यदि एक भी व्यक्ति ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो वह समाज ही नहीं बल्कि देश भी उन्नति के शिखर पर पहुंचता है। ऐसे समाज या देश को हानि पहुंचाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। उत्थल-पुत्थल अवश्य आती हैं लेकिन हर उत्थल-पुत्थल जीवन की नई-२ सम्भावनाओं व चुनौतियों को जन्म देती है। कर्मयोगी समाज के लिए यही सम्भावनाएं और चुनौतियां वरदान बनती हैं और सुनहरे भविष्य का निर्माण करती हैं।

मनुष्य के लिए शारीरिक या मानसिक धर्म अलग-२ हो सकते हैं लेकिन आत्मा या रूह का केवल एक ही धर्म हो सकता है और वह है प्रेम। सच्चा प्रेम मनुष्य को जोड़ता है तोड़ता नहीं। प्रेम अनहद है जो हर हद को पार करने का सामर्थ्य रखता है। प्रेम की कोई जात नहीं है, प्रेम किसी धर्म या सम्प्रदाय का मोहताज नहीं है। वह यह नहीं पूछता कि सामने वाला व्यक्ति हिन्दू है या मुसलमान, सिख है या ईसाई, ब्राह्मण है या शुद्र। वह तो केवल देना जानता है, लेना उसकी फितरत ही नहीं है। अतः इस भौतिक संसार में प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही मार्ग और प्रेम ही मंजिल है। इस मार्ग में किसी अवतार, पैगम्बर या मसीहा की बाहरी पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है लेकिन इनके आदर्शों का अनुसरण करके हमें इन्हें अपने ही अन्दर जीवित करना होगा। इनकी दैविक चेतना का अनुभव हमें अपनी ही आत्मा के अन्दर करना होगा तभी विश्व गांव का सपना साकार हो सकेगा और धरती पर स्वर्ग बनाने की इच्छा की प्राप्ति हो सकेगी। वरना धर्म और समाज की ये दीवारें मनुष्य को हमेशा आपस में बांटती ही रहेंगी।

प्रेम सार्वभौमिक धर्म है, जिसे मनुष्य के साथ-२ पशु और पौधा भी

मानता है। जीव-अजीव की यह सारी सष्टि इसी प्रेम के खिंचाव की शक्ति के कारण ही भिन्न-२ अस्तित्वों में बंटी हुई है और हर एक अस्तित्व अपनी पूर्ति के लिए दूसरे अस्तित्व के चारों ओर चक्कर काट रहा है। पौधा, पशु, पक्षी, जीव-अजीव हमारे किसी धर्म या शास्त्र को नहीं जानते, वे तो बस प्रेम की भाषा को पहचानते हैं। अतः प्रेम का धर्म (धर्मे-सीना) ही व्यावहारिक धर्म है जो मनुष्य को शाश्वत धर्म या धर्मे-हकीकत से वाकिफ करवाता है। इसलिए मानव कल्याण के इस यज्ञ में हमें किसी धन या द्रव्य की आवश्यकता नहीं है बल्कि प्रेम व पवित्र विचार की आहुति चाहिए और उसी के प्रति संकल्प की आवश्यकता है।

माता-पिता और परिवार से मिली आध्यात्मिक पष्ठभूमि ने हमेशा मेरा मार्गदर्शन किया है और जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। आध्यात्मिक मिशन का यह कार्य मेरी पत्नी और आध्यात्मिक सहयोगी श्रीमती बिमल की प्रेरणा से आरम्भ हुआ। मेरे सतगुरू राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज ने इस प्रेरणादायक चिंगारी को अपनी तवज्जह और दया के हाथ से ध्यान-भजन की हवा देकर ब्रह्म अग्नि में परिवर्तित किया जो हर समय योगयज्ञ की ज्योति (नूर) बनकर अन्दर जलती रहती है और अनहद नाद बनकर खुदाई कलमा (वर्ड) सुनाती रहती है। सम्भवतः इसी आध्यात्मिक चिंगारी को आंखों में देखकर मेरे सतगुरू शहनशाह ने मेरा नामकरण किया और मुझे 'प्रकाश' के नाम से पुकारने लगे। तब से वे हम दोनों को बिमलप्रकाश कहकर पुकारते थे। आज सत्संग का यह कार्य सतगुरू-मुर्शिद की दया और मेहर से ही आगे बढ़ रहा है और इसमें बिमल का विशेष योगदान है। आध्यात्मिक दष्टि से देखा जाए तो बिमल का ध्यान हमेशा ही सारी संगत में अव्वल रहा जिसकी चर्चा मेरे सतगुरू समय-समय पर संगत के बीच में करते रहते थे।

यह मैं उन लोगों के लिए लिख रहा हूं जो स्त्री को तुच्छ व भोग की वस्तु समझते हैं और कहते हैं कि औरत आध्यात्मिक ऊँचाई को नहीं छू सकती है। मेरे सतगुरू कहते थे कि परमात्मा ने दो ही जातियां बनाई हैं, एक स्त्री व दूसरी पुरूष। यही दो जातियां पुरूष और प्रकति बनकर सष्टि का सजन करती हैं। जब स्त्री और पुरूष स्वयं का आधा अस्तित्व

एक-दूसरे को समर्पित कर देते हैं तो ये अर्धनारीश्वर बनकर एक दूसरे का अंग-प्रत्यंग होकर कार्य करते हैं और एकता के सूत्र में बंध जाते हैं। प्रकति जब अपना पूर्ण समर्पण कर देती है तो यह परामाया या पराप्रकति या राधा बनकर पुरूष (स्वामी) के अन्दर समा जाती है और पुरूष पराप्रकति या पराशक्ति बनकर अपने परम् शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है जहां पर लिंग-भेद, जाति-पाति और धर्म-सम्प्रदाय सभी गुण व आकार अस्तित्वहीन हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्मरूप या सतगुरू रूप का अनुभव जो भी व्यक्ति करता है वही ब्राह्मण कहलाता है। कुण्डलीनी शक्ति के सुदर्शन चक्र और आध्यात्मिक सूर्य व चन्द्रमा के दर्शन स्वयं के अन्दर करता है वही सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी कहलाता है। ऐसे आत्मिक स्रोत के आगे सारी भौतिक सत्ता की ऐश्वर्यता नतमस्तक हो जाती है और ऐसे स्रोत का मार्ग यदि किसी सांसारिक विलासिता का मोहताज है तो यह एक विडम्बना है। मैं यह नहीं कहता कि मुझे यह सब प्राप्त हो गया है बल्कि इस आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति मैं प्रयासरत हूं ताकि पूरी मानवता इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहभागी बन सके। अतः इस प्रयास रूपी यज्ञ में मैं आप सब को प्रेम और पवित्र विचार की आहुति देने के लिए आमन्त्रित करता हूं। मुझे विश्वास है कि एक दिन यह आध्यात्मिक लक्ष्य अवश्य ही फलित होगा और पथ्वी पर रहने वाले मानस का अतिमानसीकरण होगा।

प्रस्तुत संकलन इसी आध्यात्मिक मिशन की जागति व पूर्ति के लिए किया गया है। हमें आशा है कि यह संकलन एक क्रियात्मक, रचनात्मक और दिव्यात्मक अध्यात्म को पाठकों के हृदय में प्रज्जवलित करेगा और आत्मिक धर्म तथा सच्चे अध्यात्म की खोज करने में सहायता करेगा।

राधास्वामी।

बिमलप्रकाश

आध्यात्मिक शक्ति और युद्ध की प्रवति

महाभारत का युद्ध धर्म की स्थापना के लिए लड़ा गया। उस समय औरत और निर्बल की अवस्था दीन-हीन थी। वर्णशंकर समाज पनप चुका था। वर्णशंकर समाज से उत्पन्न संतान दिशाहीन होती है। उसे किसी विचार या प्यार के साथ नहीं बल्कि भोग के लिए पैदा किया जाता है। संतान की उत्पत्ति योजनाबद्ध नहीं बल्कि अकस्मात होती है, अक्सीडेंटल होती है। यह एक बहुत ही खतरनाक प्रयोग है। अंकित तिथि में सबसे पहले ऐसा ही एक प्रयोग यूनान की भूमि पर अफ्लातून (प्लेटो) द्वारा आज से लगभग 2400 वर्ष पहले किया गया था जिसे पत्नियों का समाजवाद (Communism of wives) कहा जाता है।

संसार का इतिहास युद्ध की घटनाओं से भरा पड़ा है। समय-२ पर कई आध्यात्मिक युद्ध भी हुए जो विनाश का कारण बने। भारतीय इतिहास में महाभारत का युद्ध सबसे बड़े युद्ध के रूप में जाना जाता है जो आध्यात्मिक और राजनैतिक चेतना के संघर्ष का अनूठा संयोग था और आज तक भी मनुष्य की मानसिक चेतना में हलचल पैदा कर रहा है तथा सामाजिक चेतना के विकास में भूमिका अदा कर रहा है। मानव जाति का इतिहास इस बात का गवाह है कि जीवन के विकास में मनुष्य के संघर्ष और उस संघर्ष से जन्में युद्धों का विशेष योगदान रहा है। इसलिए जीवन के दर्शन को समझने के लिए मनुष्य के अन्दर और बाहर चल रहे युद्ध व संघर्ष का आंकलन करना आवश्यक है।

श्री कष्ण एक युग पुरूष थे जो देवकी और वासुदेव की कठोर तपस्या और अटूट संकल्प की संतान थे। उस समय के समाज की परिस्थितियां इतनी विषम थी कि कुदरत के लिए साधारण तरीके से उसमें सुधार करना अति कठिन कार्य था। मनुष्य की चेतना संस्कारहीन हो चुकी थी। जब व्यक्ति में सूक्ष्म चेतना बढ़ने लगती है तो उसके सही रास्ते से भटकने की सम्भावनाएं भी बढ़ने लगती हैं। सूक्ष्म चेतना अधिक लचीली होती है, फ्लेक्सीबल होती है। वातावरण से ज्यादा प्रभावित होती है और उसके प्रभाव को जल्दी शोषित करती है। केन्द्र में वह जितनी स्थायी होती है उसकी परिधि उतनी ही परिवर्तनशील होती है, संवेदनशील होती है। वह जल्दी ही फैलने लगती है और जल्दी ही सिकुड़ने लगती है। निडरता के बढ़ने के साथ-२ उसमें भय भी समाने लगता है। व्यक्ति अधिक महत्वाकांक्षी, एम्बीसियस होने लगता है। अपनी इच्छा की पूर्ति न होने पर वह अधिक हिंसक भी होने लगता है और अपने लक्ष्य को पाने के लिए वह दूसरों का अनुचित प्रयोग और शोषण भी कर सकता है।

द्वापर युग भी ऐसा ही समय था। समाज के ऊंचे-२ ओहदों पर ऐसे व्यक्ति मौजूद थे जो वर्णशंकर समाज की देन थे। ऋषि व्यास, द्रोणाचार्य, कपाचार्य, धतराष्ट्र, पाण्डू और विदुर जैसे महापुरूष इसी समाज की देन थे। कहते हैं कि कुन्ती को जब इसके बारे में पता चला तो उसने कहा कि यदि मुझे इस बात का पहले से पता होता तो मैं कर्ण का त्याग कभी न करती। पाण्डू पुत्र भी इसी समाज का हिस्सा थे। जिस समाज के राजा-महाराजाओं का चरित्र जब इतना गिर जाता है तो साधारण व्यक्ति की अवस्था का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। ऐसे समाज में कंस और जरासंध जैसे राजाओं का पैदा होना कोई

आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि कंस के जन्म का इतिहास भी इसी सामाजिक व्यवस्था को दर्शाता है। उस समय व्यक्ति के बड़े होने का पैमाना इस बात पर निर्भर करता था कि उसके पास कितने दास, दासियां और रानियां है। स्वयं कष्ण महाराज के पास हजारों रानियां थी। यथा राजा तथा प्रजा। जहां राजा हजारों रानियां रख सकता है वहां राज्य मंत्री और अन्य विशिष्ट व्यक्ति इस प्रथा से दूर कैसे रह सकते हैं यह संभव नहीं है। ऐसे समाज में जो संतान जन्म लेती है वह अपने साथ सामाजिक उथल-पुथल लेकर आती है।

इस तरह के समाज में औरतों की हालत क्या हो सकती है इसका अन्दाजा राजा धतराष्ट्र के दरबार से लगाया जा सकता है जिसमें उसकी आज्ञा से उसी के पुत्र जुआ खेल रहे हैं, जहां पर भाई, पिता, पितामह, गुरू और विदुर जैसे विद्वान बैठे हुए हैं और घर की औरतों को दाव पर लगाया जा रहा है। भरे दरबार में सबके सामने उनकी इज्जत को लूटा जा रहा है ऐसे समाज में महाभारत जैसे युद्ध की भीषण गर्जना और त्रासदी न होगी तो और क्या होगा? सर्वांगीण विनाश का आह्वान न होगा तो और क्या होगा? इसका जवाब देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह इतिहास के पन्नों पर पहले से ही मौजूद है।

जब राजा चरित्र से गिरता है तो देश उठ सकता है, जब उसके मंत्री गिरते हैं तो देश उठ सकता है लेकिन जब किसी राज्य में विद्यमान ऋषि और महर्षि गिरते हैं तो उस राज्य की स्थिति भयंकर हो जाती है। ऋषि परासर ऊंचे दर्जे के ऋषि थे लेकिन एक झींवर कन्या के साथ मोह-पाश में बंध गए जिसके परिणाम स्वरूप महर्षि वेद व्यास का जन्म हुआ। जब वेद व्यास जैसे महर्षि जो ऊंचे स्तर की चेतना के अवतार हों, महलों में जाकर औलाद पैदा करें तो वहां के जीवन को ग्रहण लगना

समय की अनिवार्यता हो जाती है। जब ऋषि-महर्षि राज दरबार के आश्रित हो जाएं तब धर्म और जीवन दोनों की हानि होती है और जब कोई राजा किसी एक धर्म का प्रतिनिधि और अनुयायी हो जाए तो उस समय धर्म की महा-हानि होती है, आत्मिक धर्म की कब्र खुदती है तथा बनावटी धर्म का विस्तार होता है। वहां पर लोग अंधाधुंध उस धर्म के अनुयायी बनने लगते हैं। मानसिक और आत्मिक चेतना का विकास अवरूद्ध होने लगता है। उस देश के लोगों की यात्रा नास्तिक धर्म या धार्मिक कट्टरपन की तरफ आरम्भ हो जाती है। इतिहास इसका गवाह है।

राजा का धार्मिक होना, दयावान होना एक आदर्श राज्य की स्थापना के लिए अति आवश्यक है लेकिन राजा का किसी धर्म-विशेष का प्रतिनिधि होना आत्मिक धर्म के विकास के लिए उचित नहीं है। आज यदि मैं कहूं कि सारा देश राधास्वामी पंथ का अनुयायी हो जाए, यह राजधर्म बन जाए तो यह विचार आत्मा के विकास के लिए घातक होगा। यदि ऐसा हो जाता है तो धार्मिक भिन्नता और मानवीय संस्कति का विनाश होगा और आरम्भ होगा एक कन्फ्यूसियस धर्म (चीन का धर्म) का जो आत्मिक न होकर नैतिक धर्म होगा, राजनैतिक धर्म होगा और कुछ समय के बाद जब वह नैतिकता से भी हटने लगेगा तो एक नास्तिक जड़ धर्म की नींव पड़ेगी जो आत्मिक और बौद्धिक सम्पदा के लिए हानिकारक होगी या फिर यह व्यवस्था इसाई धर्म की तरह थियोडोसियस और कानसटेन्टाइन का राजधर्म बनेगी जो आगे चलकर पोप मुकुट (Papal Tiara) बनकर मिलिट्री के रूप में हथियार बद्ध होगी और एक मिलिट्रि धर्म की शुरूआत होगी। लोगों को जबरदस्ती या प्यार से राधास्वामी पंथ को अपनाने का न्यौता दिया जाएगा, उन्हें इसके लिए उकसाया जाएगा, धर्म परिवर्तन करवाया जाएगा या फिर यह व्यवस्था धार्मिक कट्टरपन का अग्रिम नमूना

होगी। कुछ स्वार्थी लोग अपने स्वार्थो की रक्षा के लिए इस पंथ को धर्म का जामा पहनाएगें। फिर यह पंथ आन्तरिक रास्ता न होकर बाहरी साधन बन जाएगा, शान-शौकत का जरिया बन जाएगा। व्यक्ति कर्म से नहीं जन्म से राधास्वामी होगा और उसी के अनुसार उसमें संस्कार डाले जाएंगे ताकि इस धर्म की रक्षा की जा सके और यदि जरूरत पड़े तो धर्मयुद्ध के लिए भी उसे तैयार किया जा सके। तब यह देश धार्मिक देश नहीं बल्कि धर्म तांत्रिक देश होगा या फिर यह व्यवस्था बौद्ध धर्म की तरह बुत-परस्त और कर्मकाण्डी हो जाएगी। हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं और जैन धर्म के तीर्थंकरों की तरह इस पंथ के महापुरूषों की पूजा होगी, उनके निवास स्थान तीर्थ स्थल में तबदील हो जाएंगे जहां लोगों के गुनाहों को बेचा जाएगा, सेल आफ इन्डलजेन्सिज होगा। पैसों के बदले मुक्ति का सौदा किया जाएगा। जितना बड़ा गुनाह होगा उतना ही अधिक धन देना होगा और उतनी ही बड़ी मुक्ति प्रदान की जाएगी। उपनिषद्, कबीर, नानक और स्वामी जी महाराज द्वारा जारी किया गया सुरत-शब्द योग लुप्त हो जाएगा। धुन क्या है, शब्द क्या है, धुन और शब्द में अन्तर क्या है, किस स्थान पर कौन सी धुन है, कौन सा शब्द है, कैसा प्रकाश है यह भेद लुप्त हो जाएगा।

हिन्दू धर्म हमेशा नई संभावनाओं और नई-नई चुनौतियों में से गुजरता रहा है इसीलिए इसमें धर्म और दर्शन की इतनी भारी विभिन्नता (Diversity), सघनता (Intensification), बहुलता (Enrichment) और सहिष्णुता (Tolerance) है जो संसार के किसी भी धर्म में नहीं है। हर व्यक्ति का स्वभाव और उसकी आवश्यकता भिन्न होती है। इस धर्म में हर व्यक्ति के स्वभाव और आत्मिक मांग के अनुसार साधन और ज्ञान उपलब्ध है।

महाभारत का युद्ध धर्म की स्थापना के लिए लड़ा गया। उस समय औरत और निर्बल की अवस्था दीन-हीन थी। वर्णशंकर समाज पनप चुका था। वर्णशंकर समाज से उत्पन्न संतान दिशाहीन होती है। उसे किसी विचार या प्यार के साथ नहीं बल्कि भोग के लिए पैदा किया जाता है। संतान की उत्पत्ति योजनाबद्ध नहीं बल्कि अकस्मात होती है, अक्सीडेंटल होती है। यह एक बहुत ही खतरनाक प्रयोग है। अंकित तिथि में सबसे पहले ऐसा ही एक प्रयोग यूनान की भूमि पर अफ्लातून (प्लेटो) द्वारा आज से लगभग 2400 वर्ष पहले किया गया था जिसे पत्नियों का समाजवाद (Communism of wives) कहा जाता है। इसमें समाज से कुछ युवक और युवतियों का चुनाव किया गया और कुछ समय तक उन्हें सहवास का मौका दिया गया। बच्चों के पैदा होने से पहले ही उन्हें अलग कर दिया गया। बच्चे पैदा होने के बाद उन्हें माताओं से भी अलग कर दिया गया ताकि बच्चों को अपने माता-पिता का पता ही न चले। इस प्रयोग के पीछे प्लेटो का विचार यह था कि ऐसी संतान पैदा की जाएं जिनका संबंध किसी से न हो क्योंकि व्यक्ति अपने बच्चों और संबंधियों के मोह-बंधन के कारण ही अपने देश और समाज के प्रति पूरी निष्ठा से समर्पित नहीं हो पाता है और आजीवन उन्हीं की चिंता और प्रबंध में लगा रहता है। उनका विचार था कि बच्चों की ऐसी पौध तैयार की जाए जो अपना पूरा जीवन राज्य की सेवा में समर्पित कर सके और जिन्हें विशेष शिक्षा-दीक्षा दी जाए ताकि वे एक दार्शनिक राजा, विवेकी मंत्री, बहादुर सेना नायक और जनता के योग्य सेवक बन सकें और निस्वार्थ होकर राज्य तथा जनता की सेवा कर सकें।

प्लेटो ने यह विचार एक राजा के सामने रखा। राजा ने सोचा कि यह व्यक्ति पागल है या उसे यह विचार आया होगा कि इससे राज्य में अव्यवस्था पैदा होगी क्योंकि यह एक ऐसा प्रयोग था जो प्रजा का ध्यान कामवासना की तरफ मोड़ सकता था। यदि राजा के यहां ऐसे प्रयोग हों तो जनता इसके प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती है। जो समाज कामवासना से ग्रसित हो जाता है उस समाज की विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कामी व्यक्ति अंधा हो जाता है, वह पवित्र से पवित्र रिश्ते को भी मैला कर सकता है। यह प्रयोग वर्णशंकर समाज को पैदा करने की तरफ एक कदम था जो राज्य के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता था। इसलिए राजा ने सोचा होगा कि यह व्यक्ति खतरनाक है और इसका इस तरह से खुला घूमना राज्य के भविष्य के लिए खतरा है। राजा भिन्न-२ तरह के लोगों से मिलता है इसलिये राजा के लिए यह पहचान करना कठिन नहीं रहा होगा कि यह व्यक्ति पागल है या विवेकी है। राजा प्लेटो के विचार सुनकर घबरा गया होगा इसलिये उसने उसे दास बनाकर बाजार में बेच दिया। उस समय के यूनानी समाज में भारत के द्वापर युग की तरह दास प्रथा का प्रचलन जोरों पर था। दासों को खुले आम खरीदा और बेचा जाता था। प्लेटो और अरस्तु (प्लेटो का शिष्य) जैसे दार्शनिकों ने भी इस प्रथा का समर्थन किया था।

प्लेटो को दास बना लिया गया लेकिन वे किसी तरह से अपने स्वामी को समझाने में कामयाब हो गए और अपनी कीमत चुकाकर उसके चुंगल से मुक्त हो पाए। प्लेटो अपनी धुन के पक्के थे, वे अपने विचार से कहां हटने वाले थे। वे इस प्रयोग को करने के लिए प्रयत्नशील रहे। उस राजा की मत्यु के बाद प्लेटो उसके पुत्र के पास

गए जो पिता की मत्यु के बाद राजा बन गया था। प्लेटो उसे अपनी योजना समझाने में कामयाब रहे। इतिहास कहता है कि प्लेटो का यह प्रयोग सफल नहीं हो सका क्योंकि यह प्रयोग एक वैज्ञानिक प्रयोग था, इसमें प्रेम के लिए कोई स्थान नहीं था। स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि जब बुद्धि और हृदय में संघर्ष छिड़ जाए तो हृदय की बात माननी चाहिए। यही ओशो कहते हैं। आदर्शवाद के नायक कान्ट के अनुसार हृदय मस्तिष्क से ऊंचा है और यही मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है।

प्लेटो के इस प्रयोग में हृदय की भावना सम्मिलित नहीं थी, प्रेम का मिश्रण नहीं था। मेरे सद्गुरू कहते थे कि बिना प्रेम और दया के सिद्ध भी कसाई होता है। कबीर साहिब कहते हैं कि जिस घर में प्रेम नहीं होता वह घर मसान (श्मशान) होता है। ऐसे हृदय में हर समय स्वार्थ और नफरत की चिता जलती रहती है। प्लेटो के उस प्रयोग में कामवासना मुख्य थी। न युवक का युवती के प्रति प्रेम था और न ही युवक और युवती अर्थात् माता-पिता का संतान के प्रति लगाव। इतने कम समय में यह संभव भी न था क्योंकि प्रेम कोई प्रबंध नहीं है जिसे प्रयत्न के द्वारा पैदा किया जा सके। यह हो सकता है कि राज्य के प्रति कर्तव्य की भावना उनमें डाल दी गई हो लेकिन प्रेम के बिना कर्तव्य को भी नहीं निभाया जा सकता है। बिना प्रेम समर्पण अधूरा है और बिना समर्पण के प्रेम भी अर्थशून्य है। अतः ऐसे प्रयोग से उत्पन्न होने वाली संतान शारीरिक रूप से बलवान हो सकती है लेकिन वह आत्मिक और नैतिक दष्टि से भी मजबूत हो इसकी संभावना बहुत ही कम है। अन्ततः जो समाज अस्तित्व में आया वह उथल-पुथल करने वाला था। चंचल और

महत्वाकांक्षी था, अनैतिक और अवज्ञाकारी था। वैचारिक वातावरण आक्रामक होने लगा था। सिकन्दर जो अरस्तु का शिष्य था उसने ऐसे ही लोगों की सेना बनाई और अरस्तु की आंखों के सामने एथेन्स जैसी सुन्दर नगरी को तहस-नहस कर दिया और वे विवश होकर आंख बंद किए हुए इस विनाश लीला को देखते रहे। यूनान ही नहीं बल्कि संसार का काफी हिस्सा सिकन्दर के इस उत्पात का शिकार बना जिसने बाद में हिन्दुस्तान पर भी आक्रमण किया।

संसार के सबसे पहले और सबसे बड़े दो युद्ध महाभारत का युद्ध और सिकन्दर का युद्ध थे। दोनों ही युद्ध वर्णशंकर समाज की देन थे। जैसा पहले भी बताया गया है कि ऐसे समाज की संतान अत्यधिक महत्वाकांक्षी होती है, चरित्रहीन होती है और इसके साथ-२ इसके अल्पायू होने की संभावना भी होती है क्योंकि वह अनचाही संतान होती है तथा उसे पैदा करने में माता-पिता के संकल्प, उनके प्रेम और समर्पण की कमी होती है। भारतीय संस्कति इसीलिये आज तक इतनी चुनौतियों के बाद भी जीवित रही क्योंकि इसका आधार यहां की परिवार व्यवस्था और आपसी प्रेम है। जिस समय यहां की परिवार व्यवस्था टूट जाएगी उस समय अनचाही संतान आने लगेगी और हजारों साल पुरानी संस्कति और सबसे मजबूत आध्यात्मिक विरासत को ग्रहण लग जाएगा। मनुष्य पश्चिम की तरह मन के धरातल पर ठहर जाएगा। यह संभव है कि भौतिक और शारीरिक सम्पन्नता इसे प्राप्त हो जाए परन्तु इस सम्पन्नता की आत्मा को खतरा पैदा हो जाएगा लेकिन फिर भी यदि इस देश की धार्मिक विभिन्नता मौजूद रही तो यह देश संसार को सबसे ऊंचा आध्यात्मिकता का पाठ हमेशा पढ़ाता रहेगा, अन्तर्मुखी शिक्षा देता रहेगा।

विभिन्न विचारक और दार्शनिक विचारधारा के लोगों ने युद्ध और युद्ध के परिणामों को भिन्न-भिन्न दष्टि से देखा है। युद्ध जीवन के विकास के लिए आवश्यक है या हानिकारक है, इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

मनुष्य का जीवन एक संघर्ष है। यह संघर्ष कभी-२ इतना बढ़ जाता है कि इसमें युद्ध जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। जब दो राष्ट्र, धर्म या कौम संघर्ष की चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं तो युद्ध अवश्यमभावी हो जाता है। लम्बे समय से जो जहर का बीज अन्दर में बोया गया है वह उचित वातावरण मिलने पर बढ़ता जाता है। उसका जन्म जहर और नफरत की भूमि पर होता है तो उसे आबोहवा भी नफरत और घणा की दी जाती है ताकि वह उसके रंग में रंग जाए। समय के साथ यह रंग इतना गाढ़ा हो जाता है कि इसे उतारने की सभी तरकीब फेल हो जाती हैं। इनमें सबसे गाढ़ा रंग धार्मिक कट्टरपन और भौतिक समाजवाद का है। एक आस्तिक विकति है तो दूसरी नास्तिक। दोनों ही वर्ग-धर्म हैं, कम्यून रिलीजन हैं। व्यक्तिगत नास्तिकता का रंग देर-सवेर उतर सकता है लेकिन धार्मिक कट्टरपन और भौतिक समाजवाद इतने गहरे रंग हैं कि व्यक्ति समझता हुआ भी अपनी आंखें बन्द कर लेता है। वह इतना दुराग्रही बन जाता है कि अपने स्वार्थ के लिए वास्तविक और सामयिक परिस्थितियों को नजर अंदाज कर देता है। यह दोनों धर्म पुरानी लकीर के फकीर हैं। दोनों ही ऐसे धर्म हैं, जो आत्म संघर्ष से बचते हैं और सामाजिक संघर्ष, वर्ग संघर्ष का आह्वान करते हैं और यहां तक कि युद्ध से भी परहेज नहीं करते हैं बल्कि एक समय पर युद्ध इनकी आवश्यकता बन जाता है।

दूसरी तरफ प्रकति और सभ्यता के विकास में इनकी सार्थकता को भी नकारा नहीं जा सकता है क्योंकि संघर्ष कुदरत के विकास के लिए आवश्यक है। संघर्ष से मनुष्य की जड़ चेतना में जागति पैदा होती है, उसे बल मिलता है। रूकी हुई चेतना में गति पैदा हो जाती है। इसके अतिरिक्त वर्ग संघर्ष के द्वारा असहाय के शोषण को रोका जा सकता है। उसका विरोध किया जा सकता है। विशेषतौर पर समाजवाद जड़ चेतना को उभारने के लिए एक कारगर व प्रभावी तरीका है, एक उपयोगी व्यवस्था है। प्राकतिक प्रबंध के अन्दर हर व्यवस्था का एक सापेक्ष महत्व है, कम्पेरेटिव सिग्नीफिकेंस है। अतः सापेक्ष दष्टि से ही किसी वस्तु, विचार या व्यवस्था का आंकलन किया जा सकता है। एक दष्टि से जो उचित मालूम पड़ता है, दूसरी दष्टि से वही अनुपयोगी हो जाता है। कम्यून धर्म एक विकसित समाज की आवश्यकता शायद न हो लेकिन चेतना के विकास की दष्टि से अविकसित समाज के लिए इसके महत्व को छोटा नहीं किया जा सकता है। जब तक चेतना अविकसित अवस्था में रहेगी तब तक धार्मिक या अधार्मिक रूप से कम्यून बनते रहेंगे, समाज ग्रुप में विभाजित होता रहेगा, झुण्ड बनते और बिगड़ते रहेंगे क्योंकि झुण्ड बनाना पाशविक चेतना का गुण है, शारीरिक चेतना का धर्म है, स्वभाव है और आवश्यकता भी है। चाहे इसे कम्यूनैलिज्म (साम्प्रदायिकता) कहो, चाहे कम्यूनिज्म (समाजवाद) कहो या इसे कम्यून (योग तंत्र जैसे मठ, आश्रम आदि) कहो। तत्व वस्तु एक है, मौलिक आधार एक है लेकिन रूप भिन्न-भिन्न हैं। ऊर्जा का स्तर और अभिव्यक्ति भी भिन्न है। आध्यात्मिक साम्यवाद कम्यून धर्म को उचित व्याख्या प्रदान कर सकता है।

प्रकति में एक व्यवस्था ऐसी है जो ऊर्जा को संचित करना चाहती है, एसीमिलेट करना चाहती है, दूसरे की कीमत पर स्वयं को जीवित रखना चाहती है जिसे डारविन ने (Survival of the fittest) कहा है। इसके साथ-साथ दूसरी व्यवस्था ऐसी भी है जो संचित ऊर्जा को सारे हिस्सों में उनकी आवश्यकतानुसार बराबर रूप में बांट देना चाहती है। दोनों व्यवस्था एक साथ कार्य करती हैं और एक दूसरे की पूरक हैं। एक के बिना दूसरी अधूरी है लेकिन मनुष्य एक ही अवस्था पर ठहर जाना चाहता है, अटक जाना चाहता है। एक सीमित दायरे में कैद होकर दूसरे आधे हिस्से को नजर अंदाज कर देता है जो प्रकति के लिए मान्य नहीं है। इसका परिणाम मनुष्य को अन्ततः भोगना पड़ता है। प्रकति के कार्य में बाधा आती है, चेतना के विकास (Evolution of life) में रूकावट पैदा होती है जिसका खामियाजा मानवता को भुगतना पड़ता है, प्रकति के क्रोध का सामना करना पड़ता है जिसे कुछ लोग परमात्मा का निर्दयी होना कहते हैं। जब शरीर की कार्यप्रणाली में बाधा डाली जाती है, उसे अप्राकतिक वातावरण में रखा जाता है और बनावटी व दूषित भोजन दिया जाता है तो उसमें धीरे-धीरे मैल जमा होता जाता है और अन्त में शरीर को बिमारी के रूप में उसका परिणाम भुगतना पड़ता है। ताओ धर्म में कहा गया है कि यदि शरीर का पोषण प्राकतिक तरीके से किया जाए तो यह अनन्त वर्षों तक जीवित रह सकता है।

पूर्ण धर्म वही है जो आत्म-संघर्ष व आत्म ज्ञान को जन्म देता है और सामाजिक चेतना को भी ऊंचा उठाता है। दोनों अवस्थाएं एक दूसरे की पूरक हैं तो एक दूसरे की विरोधी भी हैं इसलिये दोनों के साथ समन्वय बनाना कठिन है। एक में व्यक्ति

स्वयं के अन्दर आता है तो दूसरी में उसे बाहर निकलना पड़ता है। एक में ऊर्जा जमा होती है तो दूसरी में खर्च होती है। एक सैन्ट्रीपीटल है तो दूसरी सैन्ट्रीफ्यूगल व्यवस्था है। एक में ऊर्जा के सारे तीर अन्दर की तरफ जा रहे हैं, केन्द्र में समा रहे हैं तो दूसरी में सारे तीर बाहर की तरफ जा रहे हैं। एक में सर्जन है तो दूसरी में विसर्जन है। ऊर्जा वही है, ताकत वही है लेकिन रूप भिन्न हैं। जब आन्तरिक दष्टि से देखते हैं तो वही वस्तु चेतना बन जाती है और जब बाहर निकलकर देखते हैं तो वही पदार्थ रूप बन जाती है। अन्दर जाते हैं तो वही ऊर्जा प्रकाश और अनहद नाद बनकर मौन धारण कर लेती है लेकिन ज्यों-ज्यों बाहर की तरफ आते हैं तो वही ताकत विस्फोटक होने के साथ-साथ स्थूल रूप धारण करती जाती है। युद्ध उन्मादक होने लगती है। जो ऊर्जा अन्दर जाकर मौनधारण कर लेती है वहां से अध्यात्म का जन्म होता है और वही ऊर्जा जब सतह पर आकर स्थूल संसार की रचना करती है तो वहां से कम्यून धर्मों और समय के सारे धर्मों का जन्म होता है।

शंकराचार्य कहते हैं कि संसार है नहीं। जो हमें दिखाई दे रहा है वह वास्तव में है नहीं। यह केवल हमें भासता है, यह माया रूप है, भ्रम है। श्री अरविन्द कहते हैं कि सारी दष्टिगोचर सत्ता परिवर्तनशील है, क्षर है, नाशवान है, केवल आत्मा (Inner Self) अपरिवर्तनशील और अक्षर है जिसका नाश नहीं हो सकता है। यही परा-प्रकति (Higher Nature) है जो अपरा-प्रकति (Lower Nature) का आधार है। भगवद् गीता और दूसरे धर्म शास्त्रों में भी यही विचार व्यक्त किए गए हैं। विज्ञान भी यह कह रहा है कि जो हमें दिखाई दे रहा है वह वास्तविक और स्थायी नहीं हैं। यदि पदार्थ को लगातार छोटे से छोटे

रूप में तोड़ा जाए तो यही पदार्थ एक सूक्ष्म तरंग के रूप में रह जाता है, बिजली की तरंग के रूप में उपलब्ध होता है। पदार्थ एक रूप से दूसरे रूप में बदलता रहता है। कार्ल मार्क्स कहता है कि सारी सष्टि पदार्थ की ही अभिव्यक्ति है और चेतना उसका बाई-प्रोडक्ट है, बाद की अवस्था है। अध्यात्म कार्ल मार्क्स का विरोध कर रहा है और कह रहा है कि बिजली की यही तरंग जो एक स्तर पर चेतन ऊर्जा है इस सष्टि का आधार है, सारे भौतिक संसार की जन्मदात्री है। दो व्यक्ति एक ही बात पर लड़ रहे हैं। एक अंतरमुखी है तो दूसरा बाहरमुखी है, दोनों का समन्वय नहीं हो पा रहा है। यदि समन्वय हो भी जाए तो बिचौलिए इस एकता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं क्योंकि उनकी रोजी-रोटी कार्ल-मार्क्स या आध्यात्मिक आडम्बर पर टिकी हुई है लेकिन समय के साथ-२ और जीवन के विकास के नियम के अधीन उन्हें ऊर्जा का यह दोमुखी व्यवहार स्वीकार करना होगा, यह समय की एक अनिवार्यता है। इसी में मानवता की भलाई है। यदि मनुष्य इसे शांति से स्वीकार करता है तो ठीक है वरना प्रकति की मार उसे यह मानने पर विवश कर देगी या उसे नष्ट कर देगी। मनुष्य का विरोध उसका दुर्भाग्य बन जाएगा। उसका स्वार्थ और उसकी नासमझी उसी के लिए अभिशाप बन जाएंगे।

जो शक्ति शरीर में बह रही है वही मन में भी बह रही है और जो शक्ति मन में बह रही है वही शरीर को भी ताकत प्रदान कर रही है। जब तक शरीर की ऊर्जा सुव्यवस्थित नहीं है तब तक मन की ऊर्जा भी प्रभावित होती है और जब तक मन की ऊर्जा सुव्यवस्थित नहीं हैं तब तक शरीर भी सुव्यवस्थित नहीं है। सापेक्ष दष्टि से देखा जाए तो मन का सुव्यवस्थित व स्वस्थ होना अधिक आवश्यक है। मन

से शरीर को दोबारा व्यवस्था दी जा सकती है। आदर्शवाद के महानायक हिगल और बौद्ध धर्म का विज्ञानवाद कहते हैं कि यह सष्टि विचार से पैदा होती है और उसी में समा जाती है। इससे स्पष्ट है कि एक ही ऊर्जा दोमुखी होकर कार्य करती है। एक तरफ तो वह भौतिक रचना (शारीरिक सत्ता) का सजन करती है, फैलती है, नीचे की तरफ बहती है, बाहर की तरफ बहती है तथा दूसरी तरफ वह भौतिक रचना का लय करती हुई चलती है, सिकुड़ती हुई व समेटती हुई चलती है जो उर्ध्वमुखी व अन्तर्मुखी है। एक बनाती है तो दूसरी तोड़ती है। दोनों एक साथ कार्य करती हैं यह रचना में कहीं भी देखा जा सकता है। व्यक्ति, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी के अन्दर यह देखा जा सकता है। दोनों स्तर की ऊर्जा एक दूसरे की विरोधी है, कोन्ट्राडिक्सन है। जिस स्थान पर ये दोनों मिलती हैं वह आत्मा है इन दोनों की सजनकर्ता है तथा ब्रह्माण्ड स्तर पर वही परमात्मा है। ओशो कहते हैं कि जहां विरोधी मिलते हैं, कोन्ट्राडिक्सन मिलते हैं, वहीं परमात्मा का दीदार हो जाता है। जब तक व्यक्ति इस दोमुखी ऊर्जा में रहता है तब तक वह लड़ता है, झगड़ता है, विरोध करता है, कभी फैलता है तो कभी सिकुड़ता है, कम्यून धर्म बनते हैं, बिगड़ते हैं लेकिन ज्यों ही इनसे ऊपर आत्मा में चला जाता है तब दोनों विरोधी शक्तियों के आपसी विरोध समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य आत्मिक मण्डलों में प्रवेश करता चला जाता है। वह कम्यून धर्म में रहता हुआ भी इससे निर्लेप रहता है, इसकी बुराइयों से बच जाता है, गीता में वर्णित त्रिगुणातीत हो जाता है, हर समय तुरियातीत अवस्था में रहता है, वह साम्य अवस्था में रहता हुआ दुनियां से व्यवहार करता रहता है। भीड़ में रहता हुआ भी एकांत में वास करता है। यह आध्यात्मिक

या धार्मिक साम्यवाद (Spiritual Socialism) की संक्षेप में व्याख्या है। इसका व्यावहारिक विवरण किसी दूसरे स्थान पर किया जाएगा। ऊर्जा का यही तीन स्तरीय रूप हिगल का त्रिकार (Triad) है और श्री अरविन्द का तीन टायर योग समग्र योग (Integral Yoga) है। यह श्री अरविन्द की 'अतिमानसिक परिकल्पना' (Supramental vision) और जीसस के 'पथ्वी पर परमात्मा के साम्राज्य' के स्वप्न की रूपरेखा है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है। वे कहते हैं कि यदि शरीर को कुछ समय के लिए भूखा रखा जाए तो शरीर शिथिल होने लगता है और गिरने लगता है। यदि इसे कई दिनों तक भूखा रखा जाए तो मन और बुद्धि भी शिथिल होने लगते हैं। धीरे-२ विचारों की गति भी धीमी पड़ने लगती है। इसके कुछ समय के बाद एक ऐसी अवस्था आती है जब आत्मा शरीर को छोड़कर चली जाती है, मनुष्य की मत्यु हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि शरीर, प्राण, मन और आत्मा का गहरा सम्बन्ध है और ये एक ही चेतनधार के अलग-२ बिन्दू हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा और मन शरीर पर आधारित हुए और शरीर अन्न पर जो निर्जीव चेतना या ऊर्जा का अंग है। एक दष्टि से देखा जाए तो इससे नास्तिकों का यह सिद्धांत सत्य हो जाता है कि चेतना पदार्थ का परिणाम है, पदार्थ का बाई-प्रोडक्ट है, एपि-फिनोमिना है। यह आधा सत्य है इसका दूसरा पक्ष इसके विपरीत है। यदि नीचे से ऊपर जाते हैं तो चेतना पदार्थ का बाई प्रोडक्ट मालूम पड़ती है। आनन्दमय पुरूष (आत्मा) अन्नमय पुरूष (स्थूल ब्रह्म) का परिणाम प्रतीत होता है लेकिन जब ऊपर से नीचे की तरफ आते हैं तो पदार्थ चेतना में से निकलता हुआ प्रतीत होता है, अन्नमय पुरूष का जन्म प्राणमय,

प्राणमय पुरूष का जन्म मनोमय, मनोमय पुरूष का जन्म विज्ञानमय और विज्ञानमय पुरूष का जन्म आनन्दमय पुरूष में से होता हुआ प्रतीत होता है। शरीर के कारण मन प्रभावित होता है, यह सत्य है लेकिन मन की अवस्था के कारण शरीर बनता है और बिगड़ता है यह और भी बड़ा सत्य है और मन आत्मिक स्थिति के कारण प्रभावित होता है यह महासत्य है। अतः शरीर और चेतना अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं लेकिन चेतना पदार्थ से सूक्ष्म है इसलिए जहां चेतना अधिक है उसे ही श्रेष्ठ और उत्तम माना जाता है। इसी चेतना का भण्डारण करने के लिए और इसे लयबद्ध रखने के लिये ध्यान या कन्सन्ट्रेशन का उपाय बताया जाता है जिससे यह अनुशासित हो जाए। इसे एक केन्द्र बिन्दू मिल सके तथा यह एक ताकत बन सके। किसी भी शक्ति या व्यवस्था का जब तक एक शक्तिशाली और व्यवस्थित केन्द्र बिन्दू नहीं होता तब तक वह कारगर नहीं होती। आत्मा पूरे शरीर की ऊर्जा का केन्द्र बिन्दू है और जब ध्यान-अभ्यास द्वारा इसकी ऊर्जा को नियंत्रित कर लिया जाता है तो इसके अन्दर से ऐसा प्रकाश विसर्जित होने लगता है जिसकी काट किसी साधारण मनुष्य के अन्दर नहीं होती है, जिसे हानि पहुंचाना आसान कार्य नहीं है। वह मनुष्य जीवित चुम्बक बन जाता है। यदि वह परमात्मा के प्रकाश का स्रोत बन जाता है तो ऐसा पुरूष दूर-२ से हर तरह की बरकत को खींचकर अपने पास ले आता है। इसके लिए उसे इसकी इच्छा करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी यदि कुदरती मांग के अनुसार वह इच्छा करता है तो वहां हर तरह के भण्डार खुद चल कर आ जाते हैं। वहां प्राकतिक शून्यता (रूहानी दौलत) का इतना भारी मण्डल बन जाता है जिसे

भरने के लिए प्रकति की सारी ताकतें होड़ में आ जाती हैं या कह सकते हैं कि प्रकति अपनी पूर्णता के लिए उस तरफ दौड़ने लगती है।

मेरे सद्गुरू कहते थे कि गुरूमुख से बचकर रहना चाहिए वह आपे में नहीं रहता। वह सद्गुरू को बिक जाता है। उसकी इच्छा उसकी नहीं रहती। वह ब्रह्मलीन हो जाता है। ओशो कहते हैं कि जिसने खुदा को प्रकट कर लिया है वह सूर्य रूप बन जाता है उसको सताना या कष्ट देना सूर्य की अग्नि के साथ खेलना है। यहुदियों ने जब जीसस को सूली चढ़ाया तो उन्हें नहीं पता था कि वे सूर्य के साथ खेल रहे हैं। जीसस बार-२ अपने पिता परमेश्वर से यही प्रार्थना कर रहे थे कि हे पिता! इन्हें माफ करना, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। दो हजार साल बीत गए हैं, एक जीसस के बदले लाखों यहूदियों को भारी यातनाएं सहते हुए अपनी जानें गवांनी पड़ी हैं लेकिन जीसस के शरीर में लगे घाव आज भी सुलग रहे हैं। उनसे आज भी अग्नि की लपटें उठ रही हैं। यहूदी कहते हैं कि जो काम उनके पूर्वजों ने किया था उसके लिए वे जिम्मेवार कैसे हो सकते हैं? उनके द्वारा किये गए कत्य की सजा उन्हें क्यों दी जा रही है? बहुत सजा मिल चुकी है, लाखों यहूदी इस नफरत की अग्नि में भेट चढ़ चुके हैं। जीसस को गए हजारों साल बीत चुके हैं इसलिये यह सिलसिला अब बंद हो जाना चाहिये। जीसस कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे, उन्होंने आत्मयज्ञ की ज्योति प्रकट की थी, ऐसा आत्म मंथन किया था जिससे इस स्थूल जगत में ब्रह्म-अग्नि प्रज्जवलित हुई थी। रूहानी सूर्य मानवता की सेवा में अवतरित हुआ था। वे समय के पार थे, अतः दो हजार साल क्या जब तक यह मानवता रहेगी उनकी चिता सुलगती रहेगी। यहूदी जल रहे हैं या ईसाईयों के दिल जल रहे

हैं दोनों में ही मानवता जल रही है और यदि मानवता की चिता जल रही है तो जीसस उस चिता के दर्द से कैसे मुक्त हो सकते हैं। उन्हें भी तब तक क्रूस का दर्द सहना पड़ेगा जब तक ईसाई सम्प्रदाय क्रूस पर चढ़े हुए जीसस की तस्वीर की पूजा करता रहेगा। जब तक ईसाईयों के दिल में क्रूस का दर्द जारी रहेगा तब तक जीसस जो सबके दिलों में रहते हैं, को भी उस दर्द को सहना पड़ेगा। उनकी मुक्ति नहीं हो सकती है, वे धरती और स्वर्ग के बीच में झूलते रहेंगे, क्षितिज में लटके रहेंगे क्योंकि ईसाईयत का स्वार्थ उन्हें आकाश में लटका कर रखने में ही पूर्ण होता है। अब उन्हें इसाई बनने की चिंता नहीं है बल्कि ईसाईयत की चिंता अधिक है।

आज उस ध्यान के दश्य का अर्थ मुझे समझ में आ रहा है जब ध्यान अवस्था में जीसस प्रकट हुए तो हमने उनसे पूछा कि आप कैसे आ गए हैं? श्री अरविन्द्र प्रकट हो रहे हैं, श्री मां प्रकट हो रही हैं, बाबा जैमल, देव ब्रहस्पति और माता लक्ष्मी प्रकट हो रही हैं ये तो समझ में आता है लेकिन आप प्रकट हो रहे हैं यह हमें समझ में नहीं आ रहा है। तब उन्होंने कहा था कि तुम्हारा प्यार मुझे यहां खींच लाया है। उसके बाद वे हमारे साथ बच्चों की तरह खेलते रहते थे और बच्चों जैसा बनने की शिक्षा देते थे। फिर एक दिन अचानक गंभीर हो गए और कहने लगे कि मैं आकाश में अटका हुआ हूँ। हमने पूछा कि क्या आपकी मुक्ति नहीं हो सकी है तो उन्होंने कहा था कि जब तुम अपना कार्य पूर्ण करके ऊपर आओगे तब साथ ही ऊपर चलेंगे। उसके बाद हम सद्गुरू के चरणों में चले गए और ये सब बातें भूल गए लेकिन आज जब ये लिखा जा रहा है तो वह दश्य एक बार फिर जीवित हो उठा है और यह सब लिखने पर मजबूर कर रहा

है। यद्यपि आज हम ऐसे दश्यों को अधिक महत्त्व नहीं देते हैं क्योंकि यह अनुभव मानसिक चेतना का अनुभव है, इससे आत्मिक अनुभव का कोई सरोकार नहीं है। ऐसे दर्शन आत्मिक अनुभव में उतरने के लिए लाभदायक होते हैं लेकिन अनुभव की इसी अवस्था पर अटक जाना अधूरे अध्यात्म की प्राप्ति है। पूर्ण अध्यात्म की समझ आए बगैर यह अधूरा आध्यात्मिक अनुभव मानवता के लिए खतरा बन जाता है और मनुष्य को मनुष्य से लड़वाता है।

यहूदियों ने संसार को इतने महान व्यक्ति दिए हैं जिनकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती है लेकिन इस एक भूल ने उनके अस्तित्व के लिए प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया है। जीसस के जाने के बाद वे लगातार संघर्ष में जी रहे हैं और जब तक रहेंगे, उन्हें संघर्ष का सामना करना पड़ेगा लेकिन जो भूल हजारों साल पहले यहूदियों ने की थी आज वही भूल इसाई कर रहे हैं।

जब कोई संत या महात्मा किसी स्थान पर तपस्या करता है तो वह भूमि और वहां का वातावरण उसकी रेडिएसन से ओतप्रोत हो जाते हैं। वहां पर आध्यात्मिक शक्ति का इतना विशाल मण्डल निर्मित हो जाता है कि उसके चारों तरफ का वातावरण इसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। परिणामस्वरूप प्रकति माता को इसके विस्तार के लिए कोई न कोई प्रबंध करना पड़ता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि यदि मनुष्य शांति से प्रकति के इस कार्य में मदद करता है तो ठीक है वरना मानव जाति को युद्ध जैसी स्थिति का सामना करना पड़ सकता है। वे कहते हैं कि प्राचीन यूनान सुकरात, अफ्लातून, अरस्तु, एण्टीस्थेनीज, डायोजिनीज जैसे महात्माओं के आध्यात्मिक चिंतन और तपस्या से इतना ओतप्रोत और रच हो गया

था कि उसे संसार में विस्तार देने के लिए प्रकति को युद्ध का सहारा लेना पड़ा जिसमें सिकन्दर ने यूनान और रोमन सभ्यता को तहस-नहस कर दिया। जान-माल की हानि तो काफी हुई लेकिन इससे यूनान की विचारधारा को विश्व में फैलने का आधार मिला। सिकन्दर के युद्ध के बाद सीनिकल मत से स्टोइक धारा का उदय हुआ। इनमें राज्य की बजाय व्यक्तिगत पूर्णता को सर्वाधिक महत्व दिया गया। विश्व बंधुत्व (Universal brotherhood) और विश्व-नागरिकता (World citizenship) के सिद्धांत पर जोर दिया गया। सीनिक व स्टोइक दर्शन मनुष्य को राजनीति से दूर रहने का उपदेश देते थे। सीनिक पंथ, जिसका उदय सुकरात के देहान्त के बाद हुआ था, फक्कड़ और त्यागी फकीरों का पंथ था। यह पंथ एण्टिस्थेनीज द्वारा चलाया गया था जो पहले आर्जियस नामक सोफिस्ट का शिष्य था, किन्तु सुकरात से मिलने के बाद उनसे इतना प्रभावित हुआ कि फिर वह उनका एक तरह से दीवाना हो गया और उनके पीछे-२ घूमने लगा। उसे गुरू के ज्ञान से कोई विशेष प्रयोजन नहीं था, वह तो उनकी फक्कड़ तबीतय पर फिदा था। उसको सुखों से घणा थी। वह कहता था कि मैं सुखों का अनुभव करने की अपेक्षा पागल हो जाना अधिक पंसद करूंगा।

एक विरोधी ने एण्टिस्थेनीज से कहा कि मैं तुमसे बदला जरूर लूंगा, यदि नहीं ले पाया तो आत्महत्या कर लूंगा। इस पर उसने जवाब दिया - यदि मैं तुम्हारे विरोध को प्रेम में नहीं बदल पाया तो मैं आत्महत्या कर लूंगा। लोग एण्टिस्थेनीज का शिष्य बनने के लिए उसे घेरे रहते थे लेकिन वह प्रसिद्धि से बचने के लिए उन्हें डण्डा मार-२ कर भगाया करता था। इस तरह बलात् ही उसका सम्प्रदाय बन गया जो 'सीनिक सम्प्रदाय' के नाम से मशहूर हुआ। सीनिक का अर्थ है कुत्ता।

एण्टिस्थेनीज के बाद उसका शिष्य आया जिसका नाम डायोजिनीस (Diogenes) था जो उससे भी दो कदम आगे चलता था। एक बार जब वह टब में लेटा हुआ था तब उससे सिकन्दर ने पूछा कि मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ तो उसने कहा- हां, मुझ तक वह थोड़ी सी धूप आने दो जो तुमने रोक रखी है। इस पर बादशाह यह कहते हुए उसके सामने से हट गया कि यदि मैं सिकन्दर न होता तो अवश्य ही डायोजिनीस बनना पंसद करता। लोग धन सम्पत्ति बांट कर उसके पीछे-२ घूमा करते थे और वह जैतून की टहनी से उन्हें कभी-२ मार भी दिया करता था।

सुकरात के बाद यूनान में प्लेटो और सीनिक के अतिरिक्त और भी कई दर्शन अस्तित्व में आए जो सुकरात से प्रभावित थे। सिकन्दर के आक्रमण के बाद यूनान का दर्शन एथेन्स से रोम पहुंच गया। सीनिक सम्प्रदाय से स्टोइक धारा का जन्म हुआ। यह दर्शन भी शारीरिक सुखों का त्याग करने पर बल देता था। परन्तु धीरे-२ स्टोइक का आध्यात्मिक दर्शन राजनैतिक स्तर पर उतर आया जैसा कि अकसर होता है। जब आत्मिक बल कम हो जाता है तो मनुष्य को बाहरी आश्रय की जरूरत पड़ती है जो उसे राज दरबार से मिलता है। स्टोइकस की तरह रोमन दार्शनिक सेनेका और सिसरो ने भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मुख्य माना ताकि सारा विश्व प्रेम व भाईचारे की भावना में बंधकर आदर्श जीवन की उपलब्धि कर सके। रोमन साम्राज्य के इन्हीं सिद्धान्तों को आगे चलकर इसाई धर्म ने अपना लिया। ईसाई धर्म के मुख्य स्तम्भ सेंट आगस्टिन सिसरो के विश्व-समाज (Universal society) के सिद्धान्त से अत्यन्त प्रभावित थे। चौथी शताब्दी में सेंट एम्ब्रोस

तथा पांचवी शताब्दी में सेंट आगस्टिन और ग्रेगरी ने ईसाई धर्म को मजबूती प्रदान की लेकिन जब ईसाई धर्म अच्छी तरह स्थापित हो गया तो ईसाईयों ने उन सभी पुस्तकालयों को आग लगा दी जहां पर यूनानी और विश्व साहित्य मौजूद था। इनमें अलैग्जेन्डरीया का पुस्तकालय विशेषकर उल्लेखनीय है जो उस समय विद्या और ज्ञान का मुख्य केन्द्र था। सारा साहित्य जलकर राख हो गया। अब धार्मिक कट्टरपन अपना असर दिखाने लगा था। ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म दोनों ताकतवार बन चुके थे। धर्म के प्रसार और प्रचार के लिए परस्पर हित टकराने लगे और धर्मयुद्ध होने लगे। दो सौ साल में 11वीं से 13वीं शताब्दी तक आठ धर्मयुद्ध हुए।

शरीर ने आत्मा को जलाना आरम्भ कर दिया। ऐसा करते हुए वे भूल गए कि उनके शरीर की सुदंरता और ताकत जिस आत्मिक ज्ञान की मजबूती के कारण पैदा हुई थी उसे ही वे जला रहे हैं। लोगोस (शब्द या वर्ड) के सिद्धान्त ने इसाई धर्म की मदद उस समय की थी जब उसके सामने जीसस को मसीहा सिद्ध करने की चुनौती थी। लोगोस का सिद्धांत ईसाई धर्म के लिए यूनान और स्टोइक दर्शन की देन था जिसे भारतीय शास्त्रों में अनहद नाद, नाद ब्रह्म, उद्गीत आदि नामों से पुकारा गया है। सुरत-शब्द योग इसी लोगोस का विस्तार से वर्णन करता है। इतना करने के बावजूद भी ईसाई धर्म उसी ज्ञान को संजोकर आगे बढ़ सका जो अत्यंत दुर्लभ था और जिसे उसके अनुयायी जला रहे थे। प्लेटो और अरस्तु के ज्ञान ने पश्चिमी विज्ञान को एक मजबूत आधार प्रदान किया है। पश्चिम के वैज्ञानिकों के लिए वे हमेशा प्रेरणा स्रोत रहे हैं। न्यूटन कहते हैं

- प्लेटो मेरा प्रिय मित्र है, अरस्तु मेरा प्रिय मित्र है लेकिन मेरा सबसे प्रिय मित्र सत्य है। पश्चिमी सभ्यता ने विकास करने के लिए कभी प्लेटो तो कभी अरस्तु के दर्शन को नया प्लेटोवाद (Neo Platonism) और नया अरस्तुवाद (Neo Aristotelianism) के नाम से अपनाया है। तेरहवीं शताब्दी से पहले ईसाई धर्म को प्लेटो के दर्शन ने और उसके बाद अरस्तु के दर्शन ने प्रभावित किया है। यही कारण है कि इतिहासकार सेंट आगस्टिन को ईसाई प्लेटो (Christianized Plato) और सेंट थामस इक्विनाश को ईसाई अरस्तु (Christianized Aristotle) कहते हैं। ये दोनों संत इसाई धर्म के स्तम्भ माने जाते हैं। अतः आज से लगभग 2500 वर्ष पहले यूनान की धरती पर जिस दर्शन का जन्म हुआ था, अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में महात्मा सुकरात के अटूट संकल्प और अखण्ड तपस्या के बल पर जिस दर्शन ने सांस लेना आरम्भ किया था वह दर्शन आज भी पूरे पश्चिम संसार को प्रभावित कर रहा है। सुकरात का दर्शन भारत के प्राचीन उपनिषद् दर्शन के बहुत करीब था।

जब कोई संत या महात्मा किसी स्थान पर तपता है तो उसका प्रभाव मानव जाति पर लम्बे समय तक कायम रहता है। यदि कोई व्यक्ति उसके प्रभाव को छोटा करने का प्रयत्न करता है तो कुदरत को यह मान्य नहीं है। यदि ऐसे महात्मा ने करणी और रहणी से अपनी तपस्या को एक विशेष मुकाम पर पहुंचाया है तो उस वातावरण में उसकी रेडिएसन का एक ऐसा मण्डल निर्मित हो जाता है जिसके प्रभाव से वहां के वायुमण्डल के अणु-परमाणु कम्पायमान हो जाते हैं, गतिशील हो जाते हैं और

अपने चारों तरफ के वातावरण को भी प्रभावित करने लगते हैं। जब ऐसा पुरूष शरीर त्याग कर चला जाता है और यदि उसके जाने के बाद कोई दूसरा व्यक्ति प्रकति के नियमों का उल्लघंन करके उस मण्डल पर अधिकार जमाना चाहता है तो उसका खामियाजा उसे भुगतना पड़ता है, ऐसी भूमि भी हजारों साल तक पूजी जाती है। यही कारण है जीसस, कष्ण, बुद्ध, कबीर, स्वामी दयानंद, हजरत मुहम्मद जैसे महापुरूष मूर्ति पूजा के खिलाफ थे लेकिन फिर भी उनको मानने वाले आज भी बुत बनाकर उनकी या उनके शास्त्रों की विधिवत पूजा करते हैं या उनके नाम पर तीर्थ स्थल (मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरूद्वारा आदि) बनाकर उनकी पूजा करते हैं। यह सत्य है कि ऐसे महापुरूषों के स्थान की पूर्ति युगों तक नहीं हो पाती है लेकिन यह भी सत्य है कि योग्य पुरूष न होने के कारण उनका वास्तविक दर्शन समय की परतों में लुप्त होने लगता है और धीरे-२ उसमें बुराइयां पनपने लगती हैं। कुछ समय के बाद वही आदर्श, वही सच्चाई और वही दर्शन एक नया नाम (पंथ) लेकर नए रूप में प्रकट हो जाता है जो जिन्दा धर्म बनकर उभरता है और समय की जरूरत के अनुसार मानव का मार्ग दर्शन करता है। यह समय का चक्र है जो जीवन विकास के लिए आवश्यक भी है। इसे जबरदस्ती रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो प्रकति को ऐसे साधनों का सहारा लेना पड़ता है जो मनुष्य को क्रूर मालूम पड़ते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं कि जीवन के विकास में प्रकति दो कदम आगे बढ़ती है तो फिर एक कदम पीछे हटती है ताकि भूतकाल की विरासत को अपने अन्दर संजोकर भविष्य का निर्माण कर सके।

वाद और प्रतिवाद का समन्वय (Synthesis) हो सके। पुराना और नया मिलकर एक नई व्यवस्था को जन्म दे सके, जो नई होकर भी दोनों के गुणों को अपने अन्दर समाहित कर सके तथा नए और पुराने का उचित तालमेल हो सके। प्रकति का एक कदम पीछे हटना पुरानी व्यवस्था की जीत नहीं है और न ही नई व्यवस्था की हार है बल्कि उसी ऊर्जा का नवीनीकरण है, उसका नए रूप में शक्तिशाली होना है। भविष्य की तैयारी के लिए ऊर्जा का संचय है। अतः काल-चक्र के इस नियम को हमें सहजता से स्वीकार करना चाहिए। इसके लिए न ही पुरानी और न ही नई व्यवस्था को उत्तेजित होने की आवश्यकता है।

श्री अरविन्द के अनुसार जब कोई आध्यात्मिक सूर्य उदय होता है तो तामसिक शक्तियां मचलने लगती हैं और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संसार में हाहाकार मचाती हैं। उथल-पुथल करती हैं। मानसिक (सूक्ष्म) संसार सूक्ष्म शक्तियों का जमघट है, हिडन फोरसस का खेल है। सांसारिक मानव इन शक्तियों का केवल एक यंत्र है। श्री मां (The Mother) जो श्री अरविन्द की आध्यात्मिक सहयोगी थी, उनसे पूछा गया कि 1914 का विश्व युद्ध क्यों हुआ? मानवता के विनाश का नंगा नाच क्यों हुआ? मदर ने कहा - (Perhaps it was a reaction, for there was another force coming down which wanted to do its work, and perhaps those forces did not want it-it disturbed their habits. It is like a government which fears that it will be thrown out and so intervenes violently in order to keep in power.) उन्होंने कहा कि शायद कोई दूसरी ताकत नीचे आना चाहती थी

और अपना कार्य करना चाहती थी लेकिन वे अधम शक्तियां यह नहीं चाहती थी। वे डरती थी कि कहीं उनका साम्राज्य नष्ट न हो जाए, उस सरकार की तरह जो यह नहीं चाहती कि कोई उसके राज्य का अंत करे और यदि कोई ऐसा करता है तो वह सरकार ताकत में रहने के लिए हिंसा का सहारा लेने लगती है। इसी युद्ध का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द लिखते हैं-यदि वे मनुष्य, जिन्होंने यह युद्ध लड़ा, राजाओं और शासकों के यंत्र (insturment) थे तो वे राजा या शासक भी इन जीवनघाती शक्तियों की कठपुतली थे। वे आगे लिखते हैं कि जब परिवर्तन के लिए राजनैतिक, संस्थागत या सामाजिक प्रयास विफल हो जाते हैं तो प्रकति के सामने केवल एक रास्ता रह जाता है कि ऐसी ताकत का अवतरण जो इन जीवनघाती शक्तियों की कठपुतली न हो, इन्हें कार्य करते हुए देख सके ओर इन्हें बदलने के लिए या खत्म हो जाने के लिए मजबूर कर सके। एक योगी पुरूष तटस्थ होकर, प्राज्ञस्थित होकर इन जीवनशक्तियों के खेल को देखता रहता है।

श्री अरविन्द कहते हैं कि मुख्य तौर पर संसार में तीन तरह के जीव होते हैं। अधिकतर लोग ऐसे होते हैं जो इन ताकतों के हाथों में अज्ञानी यंत्र होते हैं जिन्हें इसका ज्ञान नहीं होता है। वे समझते हैं कि जीवन का सारा कार्य वे अपनी ताकत और समझ से कर रहे हैं। दूसरी तरह के जीव ऐसे होते हैं जो चेतन होते हैं, वे जानते हैं कि वे किसी अज्ञात योजना के अधीन कार्य कर रहे हैं। उस योजना को कार्य रूप देने के लिए वे केवल एक यंत्र है, ब्रह्य-लीला का एक हिस्सा हैं। तीसरी प्रकार के जीव योगी पुरूष होते हैं जो इस खेल को देखते हैं और परमात्मा की चेतना के साथ जुड़े

हुए इस खेल में भागीदार बने रहते हैं। उन्हें इस खेल की प्रक्रिया और परिणाम का भान होता है। वे परमात्मा के शुद्ध यंत्र होते हैं और किसी भी दैविक कार्य को अंजाम देने में अहम् भूमिका निभाते हैं।

महाभारत के युद्ध में इन तीनों तरह के पुरूषों को देखा जा सकता है। पहली तरह के मनुष्यों में दुर्योधन और उसके साथी हैं जो विधि की इस योजना में अज्ञान यंत्र है, इग्नोरेंट इन्सट्रूमैंट हैं। वे अहंकार वश होकर इसमें भाग ले रहे हैं। वे नहीं जानते कि किसी अनजानी शक्ति के अधीन होकर वे यहां खिंचकर चले आए हैं। वे नहीं जानते कि परमात्मा के इस खेल में वे मात्र मोहरें हैं जिसका फैसला विधि के विधान के अनुसार पहले ही हो चुका है। दूसरी तरह के मनुष्यों में अर्जुन है जिसने स्वयं को श्री कष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया है और ज्ञान को उपलब्ध हो गया है। वह यह जान गया है कि करने-कराने वाली शक्ति कोई और ही है और वह तो केवल एक यंत्र है जिसे इस कार्य के लिए एक मुख्य योद्धा के रूप में चुना गया है। वह जान गया है कि आत्मा निर्लेप है, उसे कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। न वह जीती है न वह मरती है। न उसकी जीत होती है और न हार। वह अमर है। जो कुछ हो रहा है वह प्रकति के तीन गुणों द्वारा संचालित हो रहा है और इसके संचालन कर्ता परम पुरूष श्री कष्ण हैं इसलिये वह अहंकार और अज्ञान से बच जाता है। उसे निश्चय हो जाता है कि इस कार्य के लिए वह जिम्मेवार नहीं है और न ही उसने इसका आह्वान किया है। अतः वह किसी भी प्रकार के दोष से बच जाता है। वह कर्म करता हुआ भी अकर्ता बना रहता है। उसके ऊपर कर्मों का भार नहीं चढ़ता है क्योंकि उसने अपने सभी कर्मो को सतगुरू या परमात्मा को समर्पित कर दिया है।

तीसरी प्रकार के जीवों में स्वयं श्री कष्ण हैं जो प्राज्ञस्थित होकर, ब्रह्मस्थित होकर सारे खेल को देखते हैं। उन्हें युद्ध की प्रक्रिया और उसके परिणाम का ज्ञान है। परमात्मा के कार्य की कमांड उनके अंदर से होकर गुजरती है। वे आत्म-रूप हैं, शक्ति-रूप हैं, गोडहैड हैं। युद्ध में कोई हथियार नहीं उठाते हैं। आत्मा हथियार उठा भी कैसे सकती है? आत्मा तो केवल प्रकाश व बिजली की एक तरंग है जो विचार नहीं बल्कि विचार को पैदा करती है। हथियार उठाने के लिए मन में उतरना पड़ता है, विचार में आना पड़ता है। रचना का सारा कार्य विचार में से होकर आता है। संत-मत में इसे ब्रह्मण्डी मन (Universal Mind) कहा गया है। श्री अरविन्द ने इसे उध्वर्मन (Overmind) कहा है। सारा अखिल कर्म विचार की संतान है और विचार आत्मा की संतान है। श्री कष्ण आत्मा हैं तो अर्जुन उनका विचार है। जितनी मजबूत आत्मा होती है उतना ही शक्तिशाली विचार जन्म लेता है और जितना शक्तिशाली विचार होता है उतना ही श्रेष्ठ कार्य उत्पन्न होता है। यदि आत्मा ही कमजोर है, मैली है और अपना वास्तविक स्वरूप खो चुकी है तो वहां विचार और कार्य दोनों ही कमजोर पड़ जाते हैं। अतः जिस तरफ स्वयं श्री कष्ण अर्थात् साक्षात परमात्मा मौजूद हों वह पक्ष स्वतः ही मजबूत हो जाता है, शक्तिशाली हो जाता है। ऐसे आध्यात्मिक स्रोत की मात्र मौजूदगी ही मरे हुए शरीरों में जीवन फूंक देती है। परास्त व्यक्ति के अन्दर हौंसला भर देती है।

सांख्य शास्त्र और पतजली योग दर्शन के अनुसार प्रकति जड़ वस्तु है लेकिन आत्मा रूपी सूर्य के संयोग में आने पर वह प्रकाशित हो उठती है, गति करने लगती है। आत्मा स्वयं निर्लेप है लेकिन उसकी मौजूदगी मात्र से जीवन खिल उठता है, हारता हुआ

व्यक्ति भी जीतने लगता है। सच्च कहा जाए तो आत्मा में रहने वाले व्यक्ति को बोलने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि बगैर बोले ही उसके अन्दर से निकलने वाली तरंगें आसपास के वातावरण को प्रभावित करती रहती हैं। यही कारण था कि अर्जुन ने महाभारत के युद्ध में श्री कष्ण का चुनाव किया तो दुर्योधन ने श्री कष्ण की सारी सेना का। एक तरफ कष्ण खड़े थे और दूसरी तरफ उनकी सारी सेना। अर्जुन और दुर्योधन को उनमें से एक का चुनाव करना था। पहले मौका दुर्योधन को दिया गया। दुर्योधन शारीरिक शक्ति को श्रेष्ठ समझता था तो अर्जुन आत्मिक शक्ति को। इसलिये दुर्योधन ने कष्ण की सारी सेना का चुनाव किया। अर्जुन के हिस्से में कष्ण महाराज आए। वह डर गया था कि कहीं दुर्योधन श्री कष्ण का चुनाव न कर ले। अर्जुन ने उस कष्ण का चुनाव किया जिसने युद्ध से पहले ही युद्ध में हथियार न उठाने की प्रतिज्ञा ली थी लेकिन अर्जुन को श्री कष्ण के आत्मिक सामर्थ्य की पहचान थी।

सही पहचान करना भी विचार का ही कार्य है लेकिन विचार में अटक जाना भी अधूरी अवस्था है। ओशो कहते हैं कि विचार में आसक्ति का नाम ही संसार है, अर्थात् भटकन है और विचार शुन्यता का नाम ही मोक्ष है, आत्मा में स्थिति है। आस्तिक दर्शन विचार शुन्यता की जिस अवस्था को आत्मा कहते हैं, असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, महात्मा बुद्ध उसी अवस्था को निरात्मा और नैरात्मिक समाधि कहते हैं। बुद्ध जिसे निर्वाण (Extinction of self) कहते हैं, श्री अरविन्द और गीता ने उसे ब्रह्म-निर्वाण (Extinction into Brahman) कहा है। बुद्ध ने जिसे शुन्य (All Negative Absolute) कहा है, शंकराचार्य, श्री अरविन्द और गीता ने उसे ही सर्वाधार (All Positive

Absolute) कहा है। एक ही अनुभव है लेकिन भाषा एक दूसरे के विपरीत है, विरोधी है। भाषा के इस विषम प्रयोग ने बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म को एक दूसरे का दुश्मन बना दिया था। दोनों एक दूसरे के शास्त्रों को जलाने लगे थे। महात्मा बुद्ध ने जो कहा था वह बौद्ध नहीं समझ पाए और हिन्दू धर्म का जो पुनः सनातन विचार था उससे हिन्दू अनभिज्ञ थे। फिर शंकराचार्य ने आकर दोनों को इज्जत प्रदान करते हुए हिन्दू धर्म को मजबूती प्रदान की। उन्होंने महात्मा बुद्ध को अवतारों की सूची में शामिल किया और महात्मा बुद्ध को हिन्दुओं के नौंवे अवतार के रूप में मान्यता प्रदान की।

आध्यात्मिक शक्ति और जीवन का विकास

ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से चेतना की उच्चतम मंजिल पर चढ़कर घोषणा करते हैं कि यदि तुम्हारे चारों ओर अशांति है, एक दूसरे के प्रति घणा है तो स्वयं के अन्दर झांको और देखो कि तुम कहां चूक गए हो, जब तुम अपने चारों तरफ समाज में भ्रष्टाचार और व्यभिचार को पाओ तो अपने अन्दर झांको और देखो कि तुम कहां चूक गए हो, और जब तुम संसार में अफरातफरी देखो, नफरत और हिंसा को पाओ तो स्वयं के अन्दर झांको और देखो कि तुम कहां चूक गये हो। यह घोषणा संत मत की अन्तिम घोषणा है जहां व्यक्ति व्यक्तिगत नहीं अस्तित्वगत हो जाता है। वह धर्म की व्यावहारिक बुलन्दी को छू लेता है और धर्म के व्यावहारिक और पार्थिव अवतरण को तभी जीवन में जीया जा सकता है जब धर्म का विश्व-स्वरूप मनुष्य के अन्तर में उतरने लगता है।

विचारों का जो तूफान, आरोप-प्रत्यारोप और शास्त्रार्थ युद्ध, बौद्ध विचारकों और मीमांसकों के बीच शुरू हुआ था वह शंकराचार्य ने शांत किया। बौद्ध धर्म की अच्छाइयों जैसे शुन्यता और वासना के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए इन्हें नई व्याख्या दी और हिन्दू धर्म की बुराइयों को दूर किया। वैदिक धर्म जिसके लिए मीमांसक कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, मण्डन मिश्र जैसे उद्भट विद्वान संघर्ष कर रहे थे उसे नई ऊंचाई और नया ज्ञान प्रदान किया। कुमारिल भट्ट शरीर छोड़कर जा चुके थे, प्रभाकर और मण्डन मिश्र तथा उनकी विदूषी पत्नी भारती जो सरस्वती का अवतार थी, ने शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया और सन्यास ले लिया। शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के सन्यास

को आजीवन अपनाकर हिन्दू धर्म की आश्रम व्यवस्था को नई व्याख्या प्रदान की। एक दष्टि से देखा जाए तो शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को ही नए रूप में प्रस्तुत किया। हिन्दुओं में जो बिखराव था उसे कम किया, पंचायतन (पांच देवताओं की पूजा) का सिद्धांत प्रचलित किया। इस सिद्धांत के अनुसार किसी एक देवता की मूर्ति को मध्य में रखकर बाकि चार को उसके चारों ओर रखा जाता है तथा विधिवत पूजा की जाती है। कोई भी व्यक्ति अपने इच्छित इष्टदेव को बीच में रखकर पूजा कर सकता है। इससे देवी-देवताओं में विभाजित हिन्दू समाज संगठित होता चला गया। चारों दिशाओं में मठों की स्थापना से वह और भी मजबूत हो गया। केवल 32 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया लेकिन हिन्दू संस्कति के लिए जितना कार्य उन्होंने किया वह अद्वितीय है और उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता है। यदि शंकराचार्य न आते तो भारत देश भी चीन और कोरिया की तरह नास्तिकता की तरफ एक कदम आगे बढ़ जाता। यदि 19वीं और 20वीं शताब्दी में शिन्तो धर्म पुनर्जीवित न होता तो जापान भी इसी ओर अग्रसर था। शिन्तो धर्म के पुनः जीवित होने से बौद्ध धर्म को भी आत्म संघर्ष में से गुजरना पड़ा जिसके कारण बौद्ध धर्म (जेन धर्म के नाम से) जापान में एक नई ऊंचाई को छू सका। जेन का अर्थ है ध्यान। बौद्ध धर्म केवल जेन सम्प्रदाय में जिन्दा रहा वरना वह पूर्ण तौर पर कर्मकाण्डी हो चुका है।

ओशो ने जेन पंथ को नई जान प्रदान की। ओशो कहते हैं कि 'जेन' संस्कत शब्द ध्यान का जापानी उच्चारण है, बुद्ध ने कभी संस्कत का प्रयोग नहीं किया उन्हें यह भाषा बिल्कुल पंसद नहीं थी क्योंकि वह पुरोहितों की भाषा बन गई थी और पुरोहित हमेशा शैतान की सेवा में रहता था। बुद्ध ने बहुत सरल भाषा में बात की, वही भाषा

जो नेपाल की घाटी के लोग बोलते थे। वह भाषा है पाली। पाली में ध्यान का उच्चारण 'चान' होता है। साधारण आदमी के लिए 'ध्यान' कहना मुश्किल है, इसलिये वे 'चान' कहते हैं। जब वह चीन पहुंचा तो 'ध्यान' बना, और जब उसने कोरिया होते हुए जापान की यात्रा की तब 'जेन' हुआ।

जब बौद्ध धर्म जापान में फैला तो शिन्तो धर्म ने बौद्ध धर्म के कई धार्मिक विचारों और कत्यों को ग्रहण किया। बाद में सम्राट मेजी के समय (1868-1912) में शिन्तो धर्म ने बौद्ध विचारों से स्वतंत्र होकर अपने धार्मिक मूल्यों की पुनः व्याख्या की और इसे जापान का राजधर्म बना दिया गया क्योंकि इसमें सम्राट को ही परमात्मा का प्रतिनिधि माना जाता है और देश भक्ति की भावना का आदर किया जाता है। शिन्तो धर्म की राष्ट्र भक्ति का प्रभाव जेन सम्प्रदाय पर भी पड़ा। जेन सम्प्रदाय शिन्तो धर्म और बौद्ध धर्म का समन्वय बना। जेन का मानना है कि बाहर से जो ज्ञान अर्जित किया गया है वह पराया है, अपना नहीं होता। जब व्यक्ति बुद्धि की सारी सीमाओं को पार कर जाता है और बुद्धि की पूरी क्षमता को चुका देता है तब वह भीतर से खाली हो जाता है। उस समय उसका अतंरतम अपने रहस्य खोल देता है। जेन के अनुसार केवल धर्म ग्रंथों के अध्ययन और कर्मकाण्डों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि उसके लिए आत्म निरीक्षण और ध्यान की अत्यंत आवश्यकता है। अन्तः करण की शुद्धि और हृदय की पवित्रता इसके लिए जरूरी है।

आत्मा बहुआयामी अस्तित्व है, मल्टीडायमैन्सनल एग्जीसटैंस है। कोई उसे 'हां' या 'अस्ति', के रूप में आस्तिक होकर खोजता है तो कोई 'ना' या 'नास्ति' के रूप में नास्तिक होकर अनजान हुआ

उसी की तलाश में लगा हुआ है। जो उसे हां के रूप में खोजता है उसे वह 'हां' नजर आती है और जो 'ना' मानकर खोजता है उसे वह 'ना' के रूप में मिलती है। हिन्दू दर्शन कहता है कि न वहां 'हां' है और न ही 'ना', न वह ज्ञान है और न अज्ञान बल्कि दोनों से परे है जिसमें दोनों सम्भावनाएं व्याप्त हैं। जब अहंकार खत्म होता है तो एक व्यक्ति उस अवस्था को अहंकार शून्य अवस्था कहता है लेकिन दूसरा उसी अवस्था में प्रेम की उपस्थिति को अनुभव करता है और वह उसे प्रेम पूरित अनुभव कहता है। एक व्यक्ति उसी अवस्था को मानसिक शून्यता का नाम देता है तो दूसरा उसी को आत्मिक परिपूर्णता कहकर वर्णन करता है। एक व्यक्ति उसे नफरत की समाप्ति कहता है तो दूसरा उसी को प्रेम की प्राप्ति कहता है।

अस्तित्व की गहराई में अस्ति और नास्ति, 'हां और ना' एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। गहराई से देखते हैं तो जीवन में मत्यु छिपी है और मत्यु में जीवन। स्वास्थ्य में बिमारी का बीज मौजूद है तो बिमारी के अंदर स्वास्थ्य की संभावना। हम कब से स्वस्थ हुए और कब से बिमार होने लगे यह कहना अति कठिन है। हम कब से जी रहे हैं और कब से मर रहे हैं यह कहना आसान नहीं है। जीने के साथ ही मरने का अभ्यास भी शुरू हो जाता है। हंसने लगो और जोर से हंसते ही रहो तो उसका अंत रोने से होता है, हंसी धीरे-२ रोने में बदल जाती है और यदि रोने लगो और जोर से रोते ही रहो तो उस रोने का अन्त हंसने में जाकर होता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड कहता है कि मनुष्य के अन्दर 'जीने की इच्छा' के साथ-२ 'मरने की इच्छा' भी मौजूद है। वह 'जीने की इच्छा' (लीबिडोज) पर कार्य कर रहा था। खोज करते-२ जब वह जीवन की आंतरिक गहराइयों में गया तो उसने वहां 'मरने की इच्छा' (थानेटोज) को भी पाया। व्यक्ति प्रतिदिन सोता है, गहरी निद्रा में

जाता है लेकिन सोना और गहरी निद्रा में जाना मत्यु की ही प्रक्रिया है, प्रोसेसिंग है। गहरी निद्रा में जाए बिना शरीर और मन को ताजगी नहीं मिलती है। इसलिए वही जीवन का स्रोत भी है।

अतः एक व्यक्ति जिसे नैरात्मिक अवस्था (All Negative Absolute) कहता है तो दूसरा उसी को आत्मिक अवस्था (All Positive Absolute) कहकर वर्णन करता है। एक ही चेतना की ये दो मानसिक अवस्थाएं हैं क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि में न आत्मा की अनुभूति है न नैरात्मा की, न अस्ति की न नास्ति की। आत्मा, नैरात्मा या परमात्मा केवल दरम्यानी अवस्था का नाम है जो केवल एक विचार है लेकिन असम्प्रज्ञात समाधि विचारातीत है, ज्ञानातीत है और भाषातीत है। यह एक ऐसी अवस्था है जहां से साधक नया होकर निकलता है। यह शक्ति का एक भंडार है जिसे वह मस्ती में आकर कभी परमात्मा कह देता है तो कभी खुदा, गोड, गुड, सच्चा बादशाह आदि नामों से पुकारता है क्योंकि वही सारी ऊर्जा का स्त्रोत है। प्रेम, भक्ति और तप के बिना इसकी प्राप्ति असंभव है। प्रेम और भक्ति के द्वारा व्यक्ति अपनी बिखरी हुई ताकत को समेट कर इस शक्ति के भण्डार तक पहुंचने के योग्य हो पाता है। असम्प्रज्ञात समाधि में न किसी विचार के लिए स्थान है और न ही किसी ज्ञान या भाव के लिए। न वहां किसी देवता का विचार है और न ही असुर का है, न काल का विचार है न दयाल का। न सगुण का न निर्गुण का। न जीसस का ख्याल है और न हजरत मुहम्मद, नानक या कष्ण का। ये सभी रूप उस अरूप के भिन्न-२ रूप हैं। ये केवल साधन हैं साध्य तक पहुंचने के लिए। केवल सीढ़ी है अलग-२ रंगों की, अलग-अलग भावनाओं की, अलग-२ ज्ञान और विचार की। साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन कुछ भी हो सकता

है? लक्ष्य केवल साध्य को प्राप्त करने का है, साध्य तक पहुंचने का है। आत्मा तक पहुंचने का है, मार्ग भिन्न-२ हो सकते हैं।

महात्मा बुद्ध से जब कोई व्यक्ति आत्मा या परमात्मा के बारे में प्रश्न पूछता था तो वे मौन हो जाते थे। उन्होंने 12 वर्षो तक कठोर तपस्या की। शास्त्रों का अध्ययन किया, गहन शिक्षण-परीक्षण किया लेकिन कुछ प्राप्त नहीं हुआ। जब सारे शास्त्र ज्ञान और तर्क-वितर्क को त्यागकर, विचार शून्य होकर बोधि वक्ष के नीचे लेटे हुए थे, शरीर की चेतना भी डूबती जा रही थी तो यकायक अन्तर में चमकारा लगने लगा। बाहरी ज्ञान को तिलांजली देते ही आन्तरिक ज्ञान आलोकित हो उठा जिसने आन्तरिक शून्य को आनन्द से परिपूर्ण कर दिया। उन्होंने कहा कि अन्दर का सारा कबाड़-गन्दगी बाहर निकालते ही ज्ञान की प्राप्ति हो गई। भाव, वेदना, संज्ञा, संस्कार, चेतना सभी से विरक्त होते ही अन्तर चमकने लगा। इसलिये उन्होंने इसे आल नैगेटिव अस्तित्व या नास्ति (Nought) कहा अर्थात् सब कुछ मायनस करने या हटाने के बाद जो प्राप्ति होती है वही निर्वाण है, मोक्ष है। सारे तत्व अपने-अपने धर्म में मिल जाते हैं बाकि रह जाता है केवल शून्य।

श्री अरविंद, शंकराचार्य, स्वामी विवेकानंद, ओशो और दूसरे महात्माओं व दर्शनों ने इसी चीज को दूसरी सष्टि से देखा। उन्होंने पाया कि बुद्ध का यही नास्तिक अस्तित्व सारे अस्ति का कारण है, सारी सष्टि का आधार है जहां से रूप, भाव, वेदना, संस्कार, चेतना सभी प्रकट होते हैं। महात्मा बुद्ध सब कुछ मायनस करते हुए उस अवस्था पर पहुंचे तो दूसरे दार्शनिक भी इसी तरह वहां पहुंचे लेकिन अन्तर इतना रहा कि बुद्ध ने केवल लय को, डिजोल्यूशन को महत्व दिया जबकि दूसरे दार्शनिकों ने लय के साथ-साथ पूर्ति या उत्पत्ति

का कारण भी ढूंढा। बुद्ध ने संसार से पलायन या विरक्ति या 'ना' का मार्ग ढूंढा लेकिन दूसरे दार्शनिकों ने विरक्ति के साथ-साथ आसक्ति और संसार के होने का मार्ग भी ढूंढा। उन्होंने पाया कि जो मार्ग विरक्ति का मार्ग है, जब उसी मार्ग से वापिस आते हैं तो वही मार्ग आसक्ति या संसार बन जाता है। जो मार्ग सष्टि की प्रलय का मार्ग है उसी मार्ग से चलकर सष्टि की उत्पत्ति भी होती है। इन्होंने अस्ति और नास्ति को मिलाने वाले आधार को ढूंढ़ा, उस वस्तु को अनुभव किया जिसने महात्मा बुद्ध के उस शून्य में भी आनन्द भर दिया था। उसी आधार को भारतीय दार्शनिकों ने सर्वाधार कहा, उसी को व्यक्तिगत स्तर पर आत्मा और समष्टिगत स्तर पर परमात्मा कहा।

एक ही अनुभव है लेकिन वर्णन भिन्न-२ हैं। भाषा के प्रयोग ने उसे विषम और विरोधी रूप दे दिया है। एक ने इसे दुःख की समाप्ति कहा तो दूसरे ने इसे सुख की प्राप्ति कहा। ऐसा नहीं है कि बुद्ध को इसका ज्ञान नहीं था बल्कि वे लोगों को दुःख से छुटकारा दिलाना चाहते थे, वे उन्हें ज्ञान व दर्शन की बातों में नहीं उलझाना चाहते थे। 'संसार दुःखों का घर है' इस आर्यसत्य की पहचान करके उन्हें इससे पलायन का रास्ता बता रहे थे। दूसरे भारतीय मनीषियों ने पाया कि सष्टि की उत्पत्ति और इसका प्रलय ब्रह्म का एक गुण है जो अपने समय पर हमेशा प्रकट होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। इसलिये उन्होंने संसार को दुःखों का घर मानने के साथ-२ इसे समय की एक अनिवार्यता भी माना। संसार एक स्वप्न की तरह है यह मानने के साथ-२ व्यावहारिक दष्टि से इसके अस्तित्व को भी स्वीकार किया। अतः उन्होंने संसार में रहते हुए ही दुःखों से छुटकारा पाने की तरकीब बताई ताकि इसमें रहते हुए भी

इससे निर्लेप रहा जा सके। इसके भ्रम, नश्वरता और परिवर्तनशीलता का ज्ञान प्राप्त करते हुए और इसी संसार में रहते हुए भी जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्त की जा सके।

जब बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ तो चारों तरफ शोर मच गया कि निकट ही एक महात्मा बुद्ध बन गया है, अर्थात् एन्लाइटैण्ड हो गया है। आसपास के गांव से लोग इकट्ठे हुए और उनसे पूछने लगे कि उन्हें ज्ञान कैसे हुआ? कहां से प्राप्त हुआ? किस शास्त्र, किस गुरू, किस विधि व संस्कार से प्राप्त हुआ? बुद्ध ने एक ही जवाब दिया कि ज्ञान उनके अन्दर ही था और अन्दर से ही प्राप्त हुआ। उन्होंने कहा कि मनुष्य का शरीर पांच स्कन्धों से बना हुआ है, वे हैं - रूप (Physical form), वेदना (Feelings and Sensations), संज्ञा (Ideations), संस्कार (Dispositions) और विज्ञान (Consciousness या चेतना)। इन पांचों में से कोई भी आत्मा नहीं है। शरीर लगातार बदलता रहता है। जब तक ये पांचों अपने अलग-२ स्कन्धों में पूर्ण रूप से विलीन नहीं होते हैं तब तक जन्म-मरण व आवागमन चलता रहता है। जब कर्म और कर्म बनने का कारण (वासना) समाप्त हो जाते हैं तो ये पांच स्कन्ध अपने-अपने रूप में मिल जाते हैं और बाकि रह जाता है केवल शुन्य (Nihilism or Nought)। आरम्भ में बौद्ध धर्म में केवल व्यक्तिगत निर्वाण पर बल दिया जाता था। लेकिन महायान (Great vehicle) सिद्धान्त के आने के बाद बौद्धिसत्व और शुन्य का अर्थ बदल गया। इस शुन्यता का अर्थ ऐसा शून्य नहीं था जो जीवन से खाली हो बल्कि ऐसा स्रोत है जहां से सारा जीवन, सारी सष्टि व अखिल ब्रह्माण्ड का उदय होता है। बौद्ध धर्म के इस शुन्य और वासना की व्याख्या शंकराचार्य के ब्रह्म और माया की व्याख्या से विशेष भिन्न नहीं है

इसलिये शंकर को प्रछन्न बौद्ध (छिपा हुआ बौद्ध) कहा जाता है।

बुद्ध ने लोगों को अज्ञान से निकालने का प्रयत्न किया। उस समय वैदिक धर्म में अनेक बुराईयाँ आ गई थी। जाति-पाति के नाम पर नीची जाति के लोगों का शोषण किया जा रहा था। वर्ण-भेद चरम सीमा पर था। वेदों के ज्ञानकाण्ड को भुला दिया गया था। कर्मकाण्ड बढ़ता जा रहा था। लोगों को नरक का भय दिखाकर और स्वर्ग की लालसा देकर अनावश्यक विधि संस्कारों और पूजा पाठ में फंसाया जा रहा था जो गरीब व्यक्ति के लिए भार बनता जा रहा था। जब बच्चा गर्भ में आता था तब से लेकर मनुष्य की मत्यु तक न जाने कितनी बार पुरोहितों की सेवा-पूजा करनी पड़ती थी। बच्चे के गर्भ में आने के बाद हर महीने या 15 दिन के अंतराल पर पुरोहित से बच्चे के भविष्य के लिये संस्कार करवाने पड़ते थे। व्यक्ति बाहरमुखी बनता जा रहा था। परमात्मा को बाहर ढूंढ रहा था। इसके अतिरिक्त हवन-यज्ञ में स्वर्ग का लालच देकर या इच्छा पूर्ति के लिए पशुओं और यहां तक कि नर बलि देना साधारण बात हो गई थी। व्यक्ति को आश्रम व्यवस्था (ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) में ऐसा फंसा दिया गया था कि वह उसकी आत्मिक उन्नति में बाधक हो गई थी।

बुद्ध ने वैदिक धर्म में पनपी इन सब बुराइयों के ऊपर चोट की क्योंकि कोई भी संवेदनशील व्यक्ति ये सब कैसे सहन कर सकता है? महात्मा बुद्ध ने आश्रम व्यवस्था की जगह आजीवन सन्यास की व्यवस्था दी जिसे बाद में शंकराचार्य ने भी अपनाया ताकि बौद्ध धर्म में पनपी बुराइयों को उन्हीं के रास्ते पर आकर चुनौति दी जा सके। बुद्ध ने कहा कि स्वयं में प्रकाश बनो। (Be a lamp unto thyself), स्वयं की खोज करो जिसके लिए उन्होंने अष्ठांग मार्ग का प्रतिपादन

किया। जाति-पाति और वर्ण भेद का विरोध किया। प्रेम और करूणा का उपदेश दिया। आत्मा-परमात्मा के बारे में बार-२ पूछने पर महात्मा बुद्ध ने केवल इतना कहा कि जो वस्तु इस लोक की वस्तु नहीं कही जाती और जिसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता, उसके अस्तित्व के बारे में कुछ भी कहना उचित नहीं है। उनके इसी मौन के कारण बाद में बौद्ध धर्म बुद्धि के तर्क-वितर्क और दर्शन के पेचीदगी भरे दलदल में फंसता चला गया। महात्मा बुद्ध की व्यावहारिक और वास्तविक शिक्षाओं से दूर होता चला गया। हिन्दू धर्म के साथ इसका विरोध बढ़ता चला गया। वेदों को जलाया जाने लगा। बौद्ध विदेशी आक्रमणकारियों के साथ मिलकर हिन्दू संस्कति का विनाश करने लगे। हजारों साल पुरानी संस्कति अपने अस्तित्व को बचाने के लिए असहाय सी होने लगी। इसमें सबसे ज्यादा चिन्तित ब्राह्मण वर्ग हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल से बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ता चला गया। चन्द्रगुप्त के राज्य का विस्तार काबुल और कंधार तक था। चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद बौद्ध धर्म को पूरी तरह अपना लिया था और इसके प्रचार व प्रसार के लिए अपनी सारी ताकत लगा दी थी। इसके साथ ही लगभग एक हजार साल तक बौद्ध धर्म भारत में फैलता चला गया। सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के शासनकाल में भी इसका विस्तार हुआ क्योंकि हर्षवर्धन स्वयं भी एक बौद्ध था जिसका शासन दूर-दूर तक फैला हुआ था। समय के साथ-साथ यह धर्म विदेशों में भी फैलता चला गया। चीन, कोरिया, जापान और मध्य एशिया के देशों में फैल गया। लेकिन भारत में जहां से इसका जन्म हुआ था वहां से अब कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वानों के कारण इसका अन्त होने लगा था।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म अहिंसा पर आधारित धर्म हैं। वैदिक धर्म में व्याप्त बलि प्रथा को समाप्त करने के लिए इन दोनों धर्मो का उदय हुआ था। एक तरफ कपिल का सांख्य योग था जिससे नास्तिकता को आधार मिला तो दूसरी तरफ वैदिक धर्म की बहुदेववादि प्रथा से लोग भ्रमित होने लगे थे, बाहरमुखी होने लगे थे। ये दोनों धर्म सांख्य के नास्तिकतावाद (ईश्वर के न होने के सिद्धान्त) से प्रभावित तो अवश्य हुए लेकिन इन्होंने मनुष्य को अन्तर्मुखी करने में सहायता की। दोनों ने यही कहा कि मनुष्य के दुर्भाग्य के लिए कोई बाहरी शक्ति जिम्मेवार नहीं है बल्कि इसके लिए वह खुद जिम्मेदार है। दोनों धर्मो ने ही कर्मो या पुद्गल को खारिज करने के लिये पवित्र जीवन, ध्यान और समाधि पर बल दिया।

महात्मा बुद्ध गांव-२ घूमते जा रहे थे। एक जगह उन्होंने लोगों की भीड़ देखी। पूछा कि क्या हो रहा है? लोगों ने बताया कि एक बैल को यज्ञ में बलि देने के लिए तैयार किया जा रहा है। बुद्ध पुरोहित के पास गए और पूछा कि वह ऐसा क्यों कर रहा है? पुरोहित ने बताया कि इससे यजमान की इच्छा पूर्ति होगी। बुद्ध ने प्रश्न किया कि इसमें बैल का क्या अपराध है? पुरोहित ने तुरंत कहा इससे बैल को स्वर्ग की प्राप्ति होगी। बुद्ध ने फिर प्रश्न किया और पूछा कि स्वर्ग की प्राप्ति के लिए तो सभी इच्छा करते हैं इसलिए वह (पुरोहित) और उसके माता-पिता भी तो स्वर्ग की इच्छा करते होंगे? पुरोहित कहने लगा कि हर व्यक्ति स्वर्ग की इच्छा करता है, वहां कामधेनू गाय है, पारिजात वक्ष है और मनुष्य की सब इच्छाएं कल्पना करते ही पूर्ण हो जाती हैं। बुद्ध ने कहा यदि ऐसा है तो तुम इस निरपराध बैल की बलि क्यों देते हो, तुम स्वयं की बलि क्यों नहीं देते या अपने माता-पिता की बलि क्यों नहीं देते ताकि स्वर्ग की प्राप्ति हो।

बुद्ध व्यावहारिक व्यक्ति थे। वे सूक्ष्म संसार से गुजर चुके थे। उन्हें यह ज्ञान था कि सूक्ष्म संसार केवल एक मानसिक संसार है, मन की एक अवस्था है। यह मानसिक कल्पनाओं का एक संसार है जिसमें मनुष्य यात्रा करता है, अपनी कल्पनाओं का संसार बनाता रहता है और खुद ही उसे गिराता रहता है। स्थूल या जागति में उसे जिस वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, सूक्ष्म या स्वप्न में उसे उसकी प्राप्ति हो जाती है। महात्मा बुद्ध ऊर्जा या शक्ति के इस मण्डल को पार कर चुके थे जहां से इस संसार का जन्म होता है इसलिए वे निर्भय थे और इस सत्य को जानते थे। साधारण मनुष्य सारा जीवन इसी संसार में भटकता रहता है और भ्रमित रहता है। पूर्व जन्मों के कर्मों का भय और अगले जन्म की चिंता उसे सताती रहती है इसलिए अंधविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों का जो विरोध महात्मा बुद्ध ने किया साधारण व्यक्ति ज्ञान न होने के कारण ऐसा नहीं कर पाता है।

आध्यात्मिक जीवन की एक विडम्बना यह भी रही है कि जो मनुष्य इस रहस्य को समझ जाते हैं और मानसिक भ्रम व सूक्ष्म संसार के इस मायावी मण्डल से छुटकारा पा लेते हैं वे साधारण चेतना से ऊपर उठ जाते हैं और उनके घर में जो संतान या प्रणाली आती है वह ऐसे भ्रमित विचारों से स्वतंत्र होती है। वह साधारण चेतना के मनुष्यों से श्रेष्ठ अवश्य होती है लेकिन वह मानसिक संसार के इस मायावी व कल्पनाओं के मण्डल को नकार देती है। इतना ही नहीं बल्कि इसके साथ-साथ आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को भी नकार देती है क्योंकि ऐसी संतान या जनरेशन अध्यात्म की अधूरी वास्तविकता से परिचित होती है और यहां से होता है एक नास्तिक संसार का जन्म। उदय होता है सुर-असुर के बीच का संघर्ष तथा

ऐसा युद्ध जो सष्टि के आरम्भ से होता आया है और जब तक यह सष्टि रहेगी तब तक अधिकता या न्यूनता के साथ यह जारी रहेगा। यह संघर्ष और युद्ध कभी-२ बहुत उत्पात व हलचल मचाते हैं क्योंकि असुर भी साधारण चेतना से ऊपर की शक्ति के पूर्व संस्कार लिए हुए होते हैं। यही कारण है कि आध्यात्मिक पाखण्ड या उसकी सच्चाई को चुनौती देने वाला व्यक्ति या तो आध्यात्मिक होता है या मजबूत आध्यात्मिक पष्ठभूमि से उसका जन्म होता है। साधारण चेतना के स्तर से ऐसा संभव नहीं है। इसलिए कभी-२ बड़े-२ संत-महात्माओं की औलाद नास्तिक बन जाती है जो आध्यात्मिक आधार को ही गिराने लग जाती है। आध्यात्मिक आधार होने के कारण ऐसे व्यक्ति धार्मिक पाखण्ड को आसानी से समझने लग जाते हैं और इसका विरोध करने लग जाते हैं लेकिन इसी प्रवाह में बहते हुए वे नास्तिकता के भौतिक और स्वार्थी संसार में फंसते चले जाते हैं तथा शैतान के प्रतिनिधि बन जाते हैं। यही कारण है कि संसार के जितने भी नास्तिक विचारक या नास्तिक क्रांतिकारी हुए हैं या नास्तिकता का चोला पहनकर रोजी रोटी कमा रहे हैं उनका पारिवारिक आधार अवश्य ही आध्यात्मिक होता है। जहां रचनात्मक (Creative) अध्यात्म होता है (कर्मकाण्ड से रहित) वहां चेतना की क्रियाशीलता स्वतः ही बढ़ जाती है। आध्यात्मिक ऊर्जा मौलिक ऊर्जा है, बेसिक शक्ति है और इस शक्ति के अन्दर झांके बिना चेतना को उछाल मिलना संभव नहीं है। ध्यान या कन्सन्ट्रेशन इस ऊर्जा के अन्दर झांकने का एक प्रभावी जरिया है, इसके नवीनीकरण की एक प्रक्रिया है।

जब किसी भी सुधार कार्य की प्रक्रिया आरम्भ होती है तो सबसे पहले एक सामुहिक चेतना उभर कर आती है और उस

सामुहिक चेतना को उभारने में किसी विरक्त और त्यागी पुरूष की सक्रिय भूमिका अवश्य होती है क्योंकि चेतना को उछाल आध्यात्मिक स्तर से ही मिल सकता है। राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक तरीके से केवल समाज में सामयिक सुधार लाया जा सकता है और वह सुधार भी अस्थायी होता है। इससे केवल मरहम पट्टी की जा सकती है, व्यवस्था में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। यदि परिवर्तन आता भी है तो वह बहुत ही मंद गति से आता है। आध्यात्मिक तरीके से जीवन का जो अवतरण होता है वह मन और शरीर की गहनतम परतों में उतर जाता है, स्पीरिट या सैल्फ का हिस्सा बन जाता है। वह हृदय में उतर जाता है। राजनीति बुद्धि की नीति है लेकिन अध्यात्म दिल की विरासत है। जब एक सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति बोलता है तो समाज की आत्मा बोलती है, अस्तित्व अपना भेद खोलता है और जब एक राजनीतिज्ञ बोलता है तो वह बाहरी व्यवस्था के केवल एक सीमित पक्ष को ही प्रस्तुत कर पाता है। यदि सामरिक स्तर पर बदलाव लाना है तो सबसे पहले मनुष्य को स्वयं को आत्मिक स्तर पर स्थापित करना होगा। वह बाहर से विस्फोटक होता जा रहा है लेकिन उसकी यही विस्फोटक प्रकति शान्तमय हो जाए इसके लिए उसे आत्मा की गहराइयों में मौजूद रहना होगा, अपनी जड़ें आत्मा के अमत भंडार में स्थापित करनी होंगी ताकि भौतिक विकास की ऊंचाइयों पर भी उसके अंदर मानवता की प्यास को जीवित रखा जा सके। प्रेम, भाईचारा और शांति के सिद्धांत को बरकरार रखा जा सके। यह केवल आध्यात्मिक स्तर से ही संभव है। सरकारी स्तर पर कितनी भी घोषणाएं की जाएं, कितनी भी नीतियां या स्कीम लागू की जाएं लेकिन यदि आध्यात्मिक चेतना विकसित नहीं है

तो उनसे कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता है। आध्यात्मिक चेतना समाज में सच्चे अर्थो में तभी विकसित हो सकती है जब मनुष्य एक दूसरे से हृदय से जुड़ा हुआ हो। राजनैतिक तौर पर मनुष्य बुद्धि के स्तर पर संबंध स्थापित करता है जो अस्थायी और छलपूर्ण होते हैं लेकिन आध्यात्मिक तौर पर वह हृदय के स्तर पर स्वयं को समर्पित करता है, ऐसा संबंध स्थापित करता है जो जन्म-जन्मान्तरों तक भी नहीं टूट पाता है। इस विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि समाज के लिए राजनैतिक व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है बल्कि इसके लिए तो अत्यधिक संवेदनशील और संगतपूर्ण राजनीति की आवश्यकता है जो स्वयं के अर्थो में भी पूर्ण हो अर्थात् बुद्धि के अन्दर हृदय का भी संगम हो।

जीवन का विकास आध्यात्मिक शक्ति के साथ गहराई से जुड़ा है। कभी यही शक्ति शांति का चोला पहन लेती है तो कभी-२ यही युद्ध और क्रांति की घोषणा कर देती है। युद्ध व क्रांति के समय जीवन का प्रवाह और भी अधिक गति से होने लगता है। यूरोप का इतिहास खूनी क्रांतियों के वर्णन से भरा पड़ा है लेकिन जितनी अधिक क्रांतियां होती गई, जनसाधारण की भागीदारी भी उनमें बढ़ती गई। व्यक्ति अधिक से अधिक अधिकारों की मांग करता गया। युद्धों पर अधिक खर्च होने के कारण समाज की व्यवस्था भी बिगड़ती गई। अनेक दार्शनिकों ने लोगों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत किया, राजा के दैविक अधिकार (Divine right) को चुनौती दी। राजा का एकाधिकार और निरंकुश शासन समाप्त होता चला गया। जितनी भी क्रांतियां हुई उनके बाद ये देश प्रजातंत्र की तरफ बढ़ते चले गए और एकता के सूत्र में बंधते चले गये।

एक साधारण और बुद्धिजीवी व्यक्ति केवल प्रत्यक्ष को आधार मानकर किसी घटना या युद्ध की प्रक्रिया और उसके परिणाम

को समझने का प्रयत्न करता है लेकिन एक दार्शनिक और आध्यात्मिक व्यक्ति की दष्टि पूर्णतया भिन्न हो सकती है। वह वो सब देख सकता है जो साधारण व्यक्ति की आंखों से ओझल है। जो हमें उचित मालूम पड़ता है वही उसके लिए समय, स्थान और प्रकति की व्यवस्था में अनुचित हो सकता है।

युद्ध का मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके बारे में मैकियावली कहता है-युद्ध ऐसी नौकरी है, जिसमें सैनिक को छली, लुटेरा तथा क्रूर तक बनना पड़ता है। डा. राधाकष्णन के अनुसार युद्ध हमसे इंसानियत ही छीन लेता है। फ्रेंकलिन की दष्टि में संसार में आज तक अच्छा युद्ध और बुरी शांति कभी नहीं हुई। शिलर के अनुसार युद्ध युद्ध को बढ़ावा देता है। आदर्शवाद (Idealism) के नायक जर्मनी के कान्ट और ब्रिटेन के ग्रीन युद्ध को मानव जाति के लिए शुभ नहीं मानते हैं लेकिन जर्मनी के हीगल और ब्रिटेन के बोशांके, जिन्होंने जर्मनी और ब्रिटेन में आदर्शवाद को स्थापित किया, युद्ध के पक्षधर हैं। हिगल का विचार है- ''युद्ध में अनेक सुपरिणाम निकलते हैं जो लाभदायक होते हैं। युद्ध व्यक्ति के स्वार्थी अहम् का नाश करता है और मानव जाति को पतन के मार्ग से बचाकर उसमें क्रियाशीलता का संचार करता है। युद्ध राज्य की शक्ति का द्योतक है। शांति भ्रष्टाचार का प्रसार करती है व अनन्त शांति अनन्त भ्रष्टाचार फैलाती है। युद्ध वह परिस्थिति है जो इहलौकिक स्वार्थो और अभिमान का नाश करता है।''

श्री अरविंद हीगल के विचारों से सहमत होते हुए प्रतीत होते हैं। वे 'एसेज आन द गीता' के 'कुरूक्षेत्र' अध्याय में लिखते हैं कि जब

श्री कष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया उस समय आध्यात्मिक उन्नति युद्ध के द्वारा ही संभव थी क्योंकि मनुष्य का स्वभाव लड़ने का और अपना प्रभुत्व स्थापित करने का है तथा परमात्मा मनुष्य की प्रकति के द्वारा ही कार्य करता है। फिर कहते हैं कि युद्ध विकास (Evolution) के लिए द्वार है जो आत्म-समर्पण के द्वारा आगे बढ़ता है। व्यक्ति स्वयं को एक दूसरे के लिए कुर्बान करता चला जाता है, यही आत्मा का नियम है, ला आफ स्पीरिट है। प्रेम मौत की तरफ जाने वाला रास्ता है जिसमें व्यक्ति स्वयं को खोता चला जाता है और नए जीवन की प्राप्ति करता है। यह जीवन और मत्यु का नियम तब तक अटल है जब तक हम अमरता प्राप्त नहीं कर लेते हैं।

क्या जीवन के विकास के लिए क्रांति आवश्यक है? इसके उत्तर में श्री अरविंद अनुभव करते हैं कि संसार के विकास को दो भागों में बांटा जा सकता है - अचेतन और सचेतन। मनुष्य से नीचे तक का विकास अचेतन है क्योंकि अन्य प्राणी आत्मा के रहस्य से अपरिचित होते हैं इसलिए अचेतनावस्था में प्रकति की द्वन्द्वात्मक परिधि में वे अचेतन होकर घूमते रहते हैं। किन्तु मनुष्य अपनी आत्मा व विकास के रहस्य से परिचित है, अतः उसके विकास के लिए क्रांति जरूरी नहीं है। उसके लिए तो आवश्यक यह है कि वह इस क्रांति का निराकरण करते हुए आत्मिक शक्ति को स्वयं में संचित करे, परिमार्जित करे। इसी प्रकार सामाजिक जीवन में 'एकता से अनेकता' और 'अनेकता से एकता' के सिद्धांत के अनुसार इस क्रांति को बचाकर समाज सचेतन अवस्था में आगे बढ़ सकता है। क्रांति विकास का साधन नहीं है बल्कि प्राणी की अचेतना के कारण वह प्रकति की निर्दयी आवश्यकता (Cruel Necessity) है और उससे बचा जा सकता है।

ओशो समाज के विकास के लिए क्रांति को आवश्यक मानते हैं। वे आध्यात्मिक विकास के लिए आर्थिक समद्धि को जरूरी समझते हैं। गरीब व्यक्ति या गरीब देश में आध्यात्मिक विकास की संभावना नहीं है। वे कहते हैं कि भारत जैसे गरीब देश में कोई आध्यात्मिक भविष्य नहीं है। दुनियां का आध्यात्मिक भविष्य अमेरिका जैसे देश में है। सभी विकासशील देशों में क्रांति आ चुकी है लेकिन भारत में कोई क्रांति नहीं आई है। ओशो कहते हैं कि युद्ध के समय व्यक्ति के अन्दर देश भक्ति की भावना बढ़ती है। युद्ध नहीं है तो शांति भी नहीं है। यदि कुछ अन्तराल के बाद युद्ध नहीं होता है तो आंतकवाद को बढ़ावा मिलता है क्योंकि मनुष्य की दबी हुई पाशविक प्रवति आक्रामक होने लगती है। इसलिए हर 10-15 साल के बाद युद्ध आवश्यक है। उनके अनुसार किसी भी देश में जब युद्ध छिड़ता है तो उस देश में चोरी, हत्याएं और लूटपाट एकदम कम हो जाते हैं। व्यक्ति की सारी ऊर्जा देश की सीमाओं की तरफ बहने लगती है। चोर, डाकू, लुटेरे आदि सभी मनुष्य सोते-जागते, उठते-बैठते यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि देश की सीमाओं पर क्या हो रहा है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म किसी भी प्रकार की हिंसा को अनुचित मानते हैं। बौद्ध धर्म में विचारों की पवित्रता पर बहुत बल दिया गया है। बुद्ध कहते हैं कि मन में किसी के प्रति बुरा विचार आना भी हिंसा है। यदि किसी व्यक्ति के शरीर के अंगों को आरी से काटा जा रहा हो और तब भी अगर उसके मन में काटने वाले के प्रति हिंसक विचार पैदा होता है तो वह उसका (बुद्ध का) शिष्य नहीं है। अहिंसा के कारण महात्मा गांधी बीसवीं शताब्दी के महानतम व्यक्ति बन गए हैं। उन्होंने अहिंसा की ताकत पर इस देश को नयी दिशा प्रदान की तथा देश की आजादी में मुख्य भूमिका निभाई। एक अंग्रेज अधिकारी अपने

अनुभव में लिखते हैं कि एक बार जब वह महात्मा गांधी पर लाठियां बरसा रहा था, वे लाठियां गांधी को लगती थी लेकिन चोट उसके दिल पर पड़ रही थी। प्यार और अहिंसा के बल पर जब आदमी जीतता है तो वह जीत वास्तविक और चिरस्थायी होती है। प्यार के द्वारा मनुष्य के मन पर अधिकार हो जाता है और जब मन पर अधिकार हो जाता है तो शरीर स्वयं ही काबू में आ जाता है। यदि दुश्मन के मन पर आपने अपने प्यार और व्यवहार की छाप छोड़ दी है तो अनजाने ही उसके शरीर और मन के किसी कोने पर आपने अधिकार जमा लिया है और आपके जीतने की संभावना प्रबल हो गई है। जिस व्यक्ति ने सूक्ष्म रूप से या वैचारिक रूप से दूसरे पर अधिकार कर लिया है, अन्तिम जीत उसी की होती है। हिंसा द्वारा प्राप्त की गई जीत विरोध पैदा करती है जो भविष्य में मानव की मानवता को हरा देती है। अपने समय पर वह मनुष्य के लिए और अधिक खतरनाक रूप लेकर प्रकट होती है और युद्ध का आह्वान करती है।

जीसस कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति आपको धोखे से एक कोस ले जाता है तो उसके साथ दो कोस चले चलो। यदि कोई व्यक्ति आपके एक गाल पर थप्पड़ मारता है तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो। क्या ऐसे व्यक्तियों ने संसार पर अधिकार नहीं किया है? यह अधिकार दिल पर की गई जीत है। दिल पर अधिकार होते ही व्यक्ति अपना सर्वस्व हार जाता है, उसे स्थूल रूप में किसी हथियार द्वारा हराने की आवश्यता नहीं है। व्यक्ति स्वयं ही अपना सब कुछ समर्पित कर देता है।

इसीलिये संत मत में विचारों की शुद्धि पर अत्यधिक जोर दिया जाता है। विचारों की पवित्रता निहायत जरूरी है। सुरत-शब्द

योग में विचारों को पवित्र रखने के लिए रहन-सहन, खान-पान का काफी महत्व है। जैसा खाए अन्न वैसा हो जाए मन, जैसा पीए पानी वैसी बोले वाणी, जैसी पीए दूधी वैसी हो जाए बुद्धि जैसी कहावतें संत मत की आगवानी करती हैं। कहते हैं कि एक बार एक अमीर दरबारी गुरू नानक को अपने घर दावत पर चलने के लिए जिद्द करने लगा। गुरू नानक के बहुत मना करने पर भी जब वह न माना तो उन्होंने उसे उसके घर से दावत का भोजन लाने को कहा। जब गुरू नानक ने उसके घर की रोटी को एक हाथ में लेकर दबाया तो उसमें से खून निकला और दूसरे हाथ की रोटी से दूध निकला जो उनके प्रिय और गरीब शिष्य के घर से थी। तब गुरू नानक ने उस अमीर व्यक्ति से कहा कि तुम्हारी कमाई से अर्जित की गई यह रोटी गरीब लोगों के खून से लथपथ है लेकिन उस गरीब की रोटी में मेहनत और ईमानदारी का अमत रस शामिल है।

आर्य समाज के अग्रणीय महात्मा आनन्द स्वामी कहते हैं कि खाना तैयार करने वाले व्यक्ति के विचार भी खाना खाने वाले मनुष्य को प्रभावित करते हैं। वे हरिद्वार में रहने वाले एक साधू का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि वह साधू अन्तर में प्रकाश में रहता था और हर रोज ध्यान में उन्नति कर रहा था लेकिन अचानक एक दिन उसका अन्दर का रास्ता बंद हो गया, वह उदास रहने लगा और स्वामी जी के पास जाकर जोर-जोर से रोने लगा। स्वामी जी ने उससे बातचीत की और उसका कारण जानने की कोशिश की। स्वामी जी ने उस साधू से पूछा कि उस दिन उसने खाना कहां पर खाया था? साधू ने एक आश्रम का नाम बताया जहां पर उस दिन एक व्यक्ति ने पुण्य के नाम पर भण्डारा दिया हुआ था। आश्रम में उस व्यक्ति के बारे में

पता करने के बाद ज्ञात हुआ कि उसने अपनी लड़की किसी अमीर के हाथों बेच दी थी और उस पाप से मुक्ति पाने के लिए उसने उस कमाई का दशवां हिस्सा उस भण्डारे में लगा दिया था। आनन्द स्वामी ने इस तरह के और भी कई उदाहरण दिए हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य को मन में बुरे विचार नहीं लाने चाहिएं इससे दूसरे के अधिकार का हनन होता है और हमें ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जिससे दूसरे प्राणियों व आसपास के वातावरण को हानि पहुंचे। वे कहते हैं कि व्यक्ति जो सोचता है उसकी तरंगें सारे ब्रह्माण्ड में फैलती हैं और आसपास के वातावरण को भी प्रभावित करती हैं। यदि हम उदास होते हैं तो आसपास का वातावरण भी उदास होने लगता है। प्रेम व नफरत की जो तरंगें हम वातावरण में विसर्जित करते हैं वे कई गुणा अधिक होकर अंत में वापिस हमारे पास आ जाती हैं और सबसे ज्यादा प्रभावित हमें ही करती हैं। कोई भी वस्तु या ऊर्जा चक्राकार होती हुई जब गति करती है तो अंत में वह अपने उसी स्थान पर लौट जाती है। सूर्य, पथ्वी, चन्द्रमा, आकाश गंगाएं और सभी नक्षत्र एक निश्चित परिधि में चक्राकार घूमते हुए, दूसरे ग्रहों व नक्षत्रों का प्रभाव शोषित करते हुए और उन्हें प्रभावित करते हुए वापिस उसी जगह पर आ जाते हैं या अपने मण्डल में चक्र काटते रहते हैं।

महर्षि शिवव्रतलाल कहते हैं कि जब मनुष्य अच्छा या बुरा विचार उठाता है तो वह विचार सबसे पहले और सबसे अधिक उसी को प्रभावित करता है क्योंकि बीज जहां पर गिरता है वह वहीं पर जमता है और फल-फूल कर उसी भूमि पर बड़ा पौधा बनता है। यदि हम अपने अन्दर नफरत का बीज डालते हैं तो वह बीज बड़ा होकर सबसे अधिक नुकसान हमारा ही करता है। वे कहते हैं कि जब कोई मूर्तिकार मूर्ति बनाता है या

लेखक कोई पुस्तक लिखता है तो सबसे अधिक लाभ उस मूर्तिकार या लेखक को ही मिलता है। उसका आनन्द और खुशी सबसे अधिक उसे ही मिलते हैं। मूर्तिकार जब मूर्ति को चोट मारता है तो उसके हृदय को गति मिलती है। वह चोट मारता है, मूर्ति सुन्दर बनती चली जाती है। सुन्दरता का वह डिजाइन उसके दिल में भी उतरता चला जाता है। उसका दिल और बुद्धि मूर्ति को सुन्दर बनाते जा रहे हैं और मूर्ति उसके हृदय को गति देती जा रही है और चित्रकार उस सुंदर मूर्ति का रूप बनाता चला जाता है। इसी प्रकार लेखक और दूसरे कलाकारों के साथ होता है। जब वह मूर्ति बनकर तैयार हो जाती है या पुस्तक लिखकर पूरी हो जाती है तो उस काम करने का सबसे अधिक आनन्द उस चित्रकार या लेखक को ही मिलता है। मूर्ति को देखने वाले या पुस्तक को पढ़ने वाले तो उसके मुकाबले में बहुत ही कम आनन्द ले पाते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि कोई भी प्रेम या नफरत की तरंग जो मनुष्य के अन्दर उठती है वह सबसे अधिक उसे ही प्रभावित करती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार व्यक्ति को सुबह ब्रह्म-महुर्त में उठते ही और रात को सोने से पहले चारों दिशाओं में मुंह करके यह श्लोक बोलना चाहिए-

''ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ओ३म् शान्तिः
पथिवीः शान्तिरापः शांतिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्ति ब्रह्म शान्तिः
सर्व ओ३म् शान्तिः शान्तिः सामा शान्तिरेधि।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अर्थात् हे प्रभू! द्युलोक में शान्ति हो, अन्तरिक्ष में शान्ति हो, पथ्वी पर शान्ति हो, जल शान्तिमय हो, औषधियां और वनस्पतियां शान्ति पूर्ण

हों, सभी दिव्य गुणयुक्त शक्तियां शान्तिमय हों। वेद विद्या शान्तिमय हो। सब कुछ शान्ति पूर्ण हो तथा वह शांति मुझे प्राप्त हो।

भारतीय दर्शन कहता है कि हमेशा परमात्मा से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभू! सब सुखी हों, सभी रोग रहित हों, सभी भद्र पुरूष बनें, किसी को कोई भी दुःख न हो ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्यम् भवेत।।

दूसरा विश्व युद्ध चल रहा था। हिटलर ब्रिटेन पर युद्ध करने की पूरी तैयारी कर चुका था। किसी भी समय धावा बोला जा सकता था। उधर ब्रिटेन की जनता चिंतित हो उठी थी। हिटलर की जीत का सिलसिला जारी था। सारा राष्ट्र एक जुट होकर परमात्मा से प्रार्थना करने लगा कि किसी तरह से युद्ध टल जाए। रात को हर रोज 9 बजे रेडियो पर विशेष प्रार्थना का आयोजन भी किया जाता था जिसमें सारा राष्ट्र भाग लेता था। युद्ध की तैयारियां भी हो रही थी लेकिन प्रार्थना भी की जा रही थी ताकि युद्ध टल जाए। इस दौरान समाचार प्राप्त हुआ कि हिटलर ने ब्रिटेन पर हमला करने की योजना बदल दी है और उसने रूस पर आक्रमण कर दिया है।

श्री अरविन्द के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने आध्यात्मिक स्तर से देश की आजादी में योगदान किया था। वैज्ञानिक अध्ययनों में पाया गया है कि यदि बिमार व्यक्ति के लिए प्रार्थना की जाए तो वह व्यक्ति जल्दी स्वास्थ्य लाभ करता है। यह भी प्रमाणित किया जा रहा है कि यदि व्यक्ति की चेतना को लयबद्ध किया जाए, रिद्म में लाया जाए तो उसकी बिमारियां जल्दी ठीक हो जाती हैं, यहां तक कि पशु और पौधे भी संगीत सुनकर लाभान्वित होते हैं। यह सब

सूक्ष्म तरंगों का खेल है जो आने-अनजाने वातावरण को प्रभावित करती रहती हैं। हर व्यक्ति के चारों ओर एक विशिष्ट प्रकार का आभा मण्डल रहता है जो व्यक्ति के मन व चेतना की अवस्था के अनुसार समय-२ पर बदलता रहता है।

यदि मनुष्य के अन्दर की चेतना जागत हो जाए और अन्तर का आध्यात्मिक सूर्य प्रकाशित हो जाए तो उसका प्रकाश दूर-दूर के मण्डलों को ज्ञान से आलोकित कर सकता है। यदि मनुष्य के अन्दर से आत्मिक सूर्य के प्रकाश का स्रोत खुल जाए तो मानव जाति को संघर्ष और युद्ध जैसी अवस्थाओं से नहीं गुजरना पड़ेगा। युद्ध हो या न हो, उसकी चेतना हमेशा जागत रहेगी। जड़ समाज में या अर्धजागत समाज में चेतना को गति देने के लिए युद्ध या क्रांति की आवश्यकता हो सकती है लेकिन जागत तथा धार्मिक समाज के लिए युद्ध पूर्ण रूप से अनावश्यक है। धार्मिक व्यक्ति वही है जो अपने कर्तव्य के प्रति हर समय जागत रहता है, इसके लिए उसे किसी अनावश्यक परिस्थिति या निर्दयी आवश्यकता (Cruel Necessity) की जरूरत नहीं हो सकती है।

ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से चेतना की उच्चतम मंजिल पर चढ़कर घोषणा करते हैं कि यदि तुम्हारे चारों ओर अशांति है, एक दूसरे के प्रति घणा है तो स्वयं के अन्दर झांको और देखो कि तुम कहां चूक गए हो, जब तुम अपने चारों तरफ समाज में भ्रष्टाचार और व्यभिचार को पाओ तो अपने अन्दर झांको और देखो कि तुम कहां चूक गए हो, और जब तुम संसार में अफरातफरी देखो, नफरत और हिंसा को पाओ तो स्वयं के अन्दर झांको और देखो कि तुम कहां चूक गये हो। यह घोषणा संत मत की अन्तिम

घोषणा है जहां व्यक्ति व्यक्तिगत नहीं अस्तित्वगत हो जाता है। वह धर्म की व्यावहारिक बुलन्दी को छू लेता है और धर्म के व्यावहारिक और पार्थिव अवतरण को तभी जीवन में जीया जा सकता है जब धर्म का विश्व-स्वरूप मनुष्य के अन्तर में उतरने लगता है।

लाओत्से का यह विचार मनुष्य को साधारण चेतना से ऊपर उठा देता है। उसके चारों तरफ निर्मित धर्म की सीमित दीवारों को गिरा देता है। वह वैचारिक दष्टि से सबका भला सोचने लगता है ताकि उसके चारों ओर का वातावरण प्रेम से परिपूर्ण रहे, एक दूसरे को समर्पित रहे। स्वार्थ में रहते हुए यह संभव नहीं है। स्वयं का सम्पूर्ण के प्रति समर्पण इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता है।

जो व्यक्ति साधारण चेतना में रहता है वह सारा जीवन मन की बाहरी सतह पर दौड़ता रहता है, समानान्तर दौड़ता रहता है, होरिजोन्टल फैलाव करता रहता है। यह फैलाव चेतन फैलाव नहीं है बल्कि पौधे और पशुओं की चेतना की तरह अचेतन फैलाव है। ओशो इसे वेजिटेट करना कहते हैं, पौधों की तरह बढ़ना कहते हैं। इस फैलाव में विवेक नही है। सभी एक ही सतह पर दौड़ते जा रहे हैं, एक दूसरे से टकरा रहे है, घायल हो रहे हैं। मत्यु का ग्रास बन रहे हैं, मरने के लिए इन्तजार कर रहे हैं क्योंकि यहां पर वह जीवन नहीं है जिसके लिए जीया जा सके और अमरता का रस पीया जा सके। वह रस पीने के लिए समानान्तर दौड़ से अलग होकर लम्बवत विकास करना होगा, वरटिकल फैलाव में जाना होगा। आकाश की ऊंचाइयों को नापना होगा अर्थात् वैचारिक और आत्मिक दष्टि से विकसित होने की आवश्यकता है जहां कोई टकराव नहीं है। ऊंचा उठे हुए व्यक्ति की दष्टि विशाल हो जाती है। वह एक ही

दष्टि में चारों तरफ का दश्य देख सकता है। भूत, भविष्य और वर्तमान को एक नजर में देख सकता है। पथ्वी पर समानान्तर दौड़ने वाला मनुष्य अगले या पिछले मोड़ पर आने वाली चीजों को नहीं देख पाता है। यह जानने के लिए उसे सोचना पड़ता है, विचारना पड़ता है या वहां जाकर देखना पड़ता है लेकिन ऊंचाई पर बैठे हुए व्यक्ति को केवल देखना होता है। एक ही दष्टि में वह सारा देख लेता है। उसे सोचने या विचारने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए सोचना और विचारना काल-जनित है, बुद्धि जनित है। जो काल-चक्र से बाहर कूद गया है, ऊपर उठ गया है वह केवल देखता है। जब व्यक्ति विचारों से निकल जाता है, बुद्धि के तर्क-वितर्क से निकल जाता है तभी देखना हो सकता है। देखने में ही आत्मा की सुन्दरता का आनन्द लिया जा सकता है। अतः आनन्द में न तो सोचा जा सकता है और न ही विचारा जा सकता है, इसे केवल जीया जा सकता है। इसलिए आत्मा को जीवन कहा गया है, दर्शन कहा गया है और जो इस जीवन का दर्शन करता है उसे दार्शनिक कहा जाता है। साधना करने वाला व्यक्ति इसे आसानी से अनुभव कर सकता है क्योंकि आन्तरिक नूर को देखते-देखते व्यक्ति जब उसके बारे में विचारने लगता है, आबजरवेशन लेने लगता है तो वह नूर ओझल हो जाता है, लुप्त हो जाता है और ज्यों-ज्यों वह अपने इष्ट या सद्गुरू के प्रति प्रेम में झूमता चला जाता है त्यों-त्यों वह प्रकाश सुदर्शन चक्र की तरह घूमता हुआ अंधकार में भी आलोक भर देता है, तन और मन को बेसुध कर देता है।

अतः जब तक मनुष्य साधारण चेतना में रहेगा वह समानान्तर दौड़ता रहेगा, उसे संघर्ष को झेलना होगा और युद्ध से गुजरते रहना

होगा। और जब तक मनुष्य का स्वभाव युद्ध करने का रहेगा तब तक गीता का महत्व भी रहेगा और गीता मनुष्य का मार्गदर्शन भी करती रहेगी। लेकिन जब मनुष्य लम्बवत विकास करेगा और श्री अरविन्द के अतिमन का भौतिक चेतना में अवतरण होगा तब सारा विश्व प्रेम और भाईचारे की भावना में बंधता चला जाएगा और युद्ध जैसी निर्दयी आवश्यकता से बचा जा सकेगा। यह समय की मांग होगी और जीवन की आवश्यकता बनेगी। तब सुरत-शब्द योग मनुष्य को अध्यात्म की ऊंचाई पर ले जाएगा और लाओत्से की बात चरितार्थ होगी। साधारण चेतना में रहने वाला मनुष्य सुरत-शब्द योग के महत्व को नहीं समझ सकता है, उसकी झलक नहीं पा सकता है। जब भगवद् गीता की पूर्ति होती है तब सुरत-शब्द योग का आरम्भ होता है। जब सभी दर्शन छूट जाते हैं, सभी धर्म निरस्त हो जाते हैं तब सुरत-शब्द योग की मंद-२ आभा दष्टिगोचर होती है। जब आज्ञा चक्र और सहस्रार पर ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के दर्शन होते हैं तब सुरत-शब्द योग की पहली आहट सुनाई देती है। जब नादलोक के दस प्रकार के शब्द सुने जाते हैं तब सुरत-शब्द योग की केवल बाहरी परत खुलती है।

राधास्वामी।

जिज्ञासुओं के लिए प्रश्न

- क्या धर्म रोजी-रोटी दे सकता है?
- क्या अध्यात्म से दु:खों का छुटकारा हो सकता है?
- क्या अध्यात्म धन और आश्रमों का मोहताज हो गया है?
- क्या सत्संग केवल धन कमाने का साधन बन गया है?
- क्या धर्म देश और समाज को सुरक्षा दे सकता है?
- क्या धर्म बिखरे व्यक्तित्व और समाज को जोड़ सकता है?
- क्या परमात्मा अमीर लोगों की धरोहर बन गया है?
- अध्यात्म क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है?
- क्या अध्यात्म, विज्ञान और संसार एक दूसरे के विरोधी हैं?
- क्या शरीर, मन व आत्मा अलग-अलग हैं?
- कुण्डलीनी जागरण क्या है?
- अनहद शब्द व धुन में क्या अन्तर है?
- परम्परावादी और आत्मनिष्ठ धर्म में क्या अन्तर है?
- कर्मकाण्ड बन्धन व दु:ख का कारण क्यों बन जाता है?
- सभी धर्मों की उत्पत्ति मानसिक संसार से है, कैसे?
- अच्छी संगत से बुरे कर्म कैसे कट जाते हैं?
- सतगुरू सूली का दर्द सूल में कैसे बदल देता है?
- सिद्ध पुरूष की इच्छा शक्ति मजबूत क्यों हो जाती है?
- सृष्टि की प्रलय व शरीर की मृत्यु का क्या सम्बन्ध है?
- अभ्यास की अट्ठारह मंजिलें कौन सी हैं?
- क्या भाग्य को बदला जा सकता है?
- क्या मन व अंहकार वास्तव में बुरे हैं?
- अध्यात्म के लिए विशाल दृष्टि जरूरी क्यों?
- सुरत-शब्द योग का मार्मिक रहस्य क्या है?
- व्यक्तिगत अस्तित्व व ब्रह्माण्ड में कितनी समानता है?
- ध्यान से समस्याओं का समाधान कैसे मिलता है?
- ध्यान से संसार का विनाश भी हो सकता है, कैसे?
- प्रेतात्मा व देवात्मा के प्रकट होने का कारण व अर्थ
- उत्पत्ति व प्रलय का वैज्ञानिक व अध्यात्मिक आधार क्या है?
- नाम व ध्यान का विज्ञान क्या है?
- कामधेनू गाय व कल्ववृक्ष की प्राप्ति क्या है?
- असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कैसे हो?

.....इत्यादि प्रश्नों के उत्तर जानिऐ?

राधास्वामी सत्संग ताराधाम, कुरूक्षेत्र

पुस्तक सूची

1. सतगुरू ताराचन्द जी महाराज के 101 अनमोल रत्न
2. रूहानी पत्र व सतगुरू आदेश
3. आत्मिक सफर और रूहानी मंजिलें (प्रश्नोतरी)
4. संत अवतरण
5. सम्यक समाधि : आत्मिक सफर की कहानी
6. पुरूष-प्रकृति
7. ईसा-मसीह कौन हैं?
8. युद्ध और जीवन दर्शन
9. अवतार अवतरण रहस्य
10. अध्यात्म से इच्छा शक्ति मजबूत कैसे होती है?
11. प्रेम और भक्ति का शिखर
12. सत्य और धर्म का अनुभव क्या इसी जन्म में संभव है?
13. टूटते रिश्ते बढ़ता अंधविश्वास व अध्यात्म
14. बच्चों पर सत्संग का प्रभाव
15. विश्व की समस्याएं और आध्यात्मिक समाधान
16. पृथ्वी पर ईश्वर का साम्राज्य
17. क्या धर्म, विज्ञान और संसार अलग-अलग हैं?
18. मनुष्य के लिए अध्यात्म जरूरी क्यों ?
19. आध्यात्मिक संकल्प, मार्ग एवं लक्ष्य